Mangal
(2nd Eddi)
1

ॐ
परम पूज्य परमात्मने नमः ।
पूज्य कहानगुरुदेवाय नमः।
ध्रुव निज आत्मने अहम्।

# प्रश्नोत्तरी

## द्रव्यदृष्टि-प्रकाश

(संदर्भ : द्रव्यदृष्टि-प्रकाश तृतीय खण्ड)

: निमित्त :

**रमेशकुमार जैन "मंगल"**
सोनगढ (सौराष्ट्र)

: प्रकाशक :

प्रथमावृत्ति
प्रत : 2000 वि .सं. 2071 ई.स. 2015
द्वितीयावृत्ति
प्रत : 3000 वि .सं. 2071 ई.स. 2015

**प्राप्तिस्थान**

(1)

(2) Mumukshu of North America (MONA)
Rajnibhai Gosaliya
+177 28282117

(3) श्री कहान क्लोथ स्टोर
जूना पालिताना रोड
सोनगढ (जि. भावनगर)
मो. 09426644035

(4) श्री दि. जैन शीतलनाथ जिनालय
जगदीश मार्केट धर्मशाला के पीछे, सावरकर चौक
ललितपुर-(उ.प्र.)

**मूल्य : स्वाध्याय, प्रयोग और अहं**

मुद्रक
**स्मृति ऑफसेट**
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)



# प्रस्तावना

इस पंचम कलिकाल के वर्तमानयुग में 'द्रव्य दृष्टि' और उसका 'विषय' पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीकी देन कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। जिस विषय की चर्चा बंद हो ही चुकी थी मात्र धर्म के नाम पर बाह्य क्रियाकाण्ड को ही साधन माना जाने लगा था एवं परस्पर उसी का उपदेश भी किया जाता था उस परिवेश में पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने निज वज्र पुरुषार्थ द्वारा 'द्रव्य दृष्टि का विषय' जो त्रिकाली ध्रुव आत्मा है उसको निकाला और आगम, स्वानुभव युक्त न्याय संगतता से हम सबको परोसा। इसी बात को सुनकर मात्र प्रथम प्रवचन से प्रेरित हो इसी धरा पर पूज्य निहालभाई सोगानीजी ने वह 'द्रव्य' जो दृष्टि का विषय है प्रथम दिन में ही स्वानुभव से विभूषित किया।

पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी का प्रभाव इतना कि यदि पात्रता योग्यता, पुरुषार्थ, काललब्धि का योग हो तो जीव एक ही प्रवचन सुन स्वयं को स्वानुभव से विभूषित कर मुक्तिवधु का प्रेमी हो सकता है।

ऐसे ही पुरुषार्थमूर्ति पूज्य सोगानीजी के मुखारविन्द समय–समय पर कुछ अमृत बिन्दु झरे जो 'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' नामक ग्रंथ के तृतीय खंड में संकलित किये गये जिनकी संख्या 700 से भी अधिक है उनमें से लगभग 90 बोल प्रश्नोत्तररूप में संकलित हैं, यह देख विकल्प आया कि जब लगभग 90 बोलों पर प्रश्न हो सकते हैं तो शेष सभी बोलों के प्रश्न क्यों नहीं बन सकते। अतः कुछ समय पूर्व यह प्रयास हुआ और लगभग दो वर्षों में यह कार्य पूर्ण हुआ।

अनेकबार किसी बोल पर व्यवस्थित प्रश्न बननेमें घण्टों व्यतीत हो जाते थे। अनेकों बार हम भावनालोक में पूज्य निहालभाईको साक्षात् आवाहन करते फिर प्रश्नों की रचना हुआ करती थी और उनके उत्तर तीसरे भाग में यथानुरूप मिल जाते थे।

प्रश्नानुसार उत्तरों (बोलों) को यथासंभव शत प्रतिशत ज्यों का त्यों रहने देने का प्रयास हुआ है। कहीं कहीं प्रश्न के अनुरूप उत्तर को व्यवस्थित करने के हेतु से पेराग्राफ को उपर-नीचे अथवा वाक्यों का आगे-पीछे संयोजन

हुआ है, एवं कहीं कहीं एक बोल में दो या दो से भी अधिक प्रश्नों की संभावना होने से किसी किसी बोल में एकाधिक प्रश्नों की रचना हो गई ।

प्रश्नानुसार उत्तर भी व्यवस्थित करने को यदि कुछ शब्दों की आवश्यकता हुई तो वह शब्द कोस्ट () में ही उभरित हुये हैं जिन्हें भिन्न टाईप से प्रकाशित किया गया है, जिससे बोलों का अर्थ सरल एवं सुगम हो सके। संभवतः भावों में परिवर्तन न हो अभिप्राय न बदले इसे अनुलक्षित रख कर ही यह प्रयास हुआ है। क्योंकि इस तीसरे भाग के स्वाध्याय करते समय अनेक आत्मार्थी यथार्थ अर्थघटन करने में चूक सकते थे इसको लक्ष्य में रखकर यह प्रयास हो गया है ।

प्रश्नोत्तर पूरे होने के बाद प्रत्येक प्रश्न का गुजराती अनुवाद घाटकोपर के विद्वान भरतभाई शाह के सहयोग से हो चुका है। लेकिन इसे प्रथम हिन्दी लिपी में ही प्रकाशन करने की सलाह मिली अतः इसे हिन्दी में प्रकाशित किया जाना निश्चित हुआ ।

जब कुछ विद्वान मनीषियों को वह अवलोकनार्थ दिया गया तो वह कहने लगे कि प्रश्न पढ़ने के बाद बोलोंको प्रश्न-उत्तररूप में पढ़नेसे उसका अर्थ यथार्थ समझ में आने लगा। कोई भी प्रश्न पोनाबीसा नहीं बना है । उन सभी की प्रेरणा से प्रथम आवृत्ति मुमुक्षु ऑफ नोर्थ अमेरिका (Mona)के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित हुई अब द्वितीय आवृत्ति

के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित की जा रही है। यदि कहीं असंगतता लगे तो हमें mangalrameshjain@gmail.com पर सूचित करें, उसमें अवश्य सुधार होगा । कुछ आत्मार्थीयों की सलाह से इस द्वितीय आवृत्ति के प्रश्नों में परिवर्तन एवं सुधार किया गया है, इस आवृत्ति में प्रश्न-उत्तरों का सुन्दर सामजस्य हो गया है।

इस पुस्तक का प्रतिदिन छह माह तक पुनः पुनः स्वाध्याय करने पर आप अपने को 'निष्क्रिय चैतन्यरूप' में वेदने लगेंगे और यही द्वादशांगका सार है जो उपादेय है। जिस दिन यह प्रश्नोत्तरी का कार्य पूर्ण हुआ उसी रात 10-30 पर पूज्य गुरुदेवश्री एवं पूज्य सोगानीजीके प्रति एक काव्य रचना हो गई जो पुस्तक के अंत में पठनीय है ।

निवेदक
रमेशकुमार जैन 'मंगल'
मो. 09426644035



# अहोभाग्य

जिसमें तन्मय होकर परिणति सदा वर्तती एकाकार।
'मैं' अरु तुम का भेद मिटाकर रहती ज्ञायक के आकार।।
अहो दृष्टि का विषय निराला गुरु कहान ने किया कमाल।
मात्र एक प्रवचन सुनकर ही सोगानीजी हुए निहाल।।

'दृष्टि का विषय' शब्द सुनते ही अध्यात्मरसिक जीवों की चेतना में मानो विद्युत प्रवाह दौड़ने लगता है। द्वादशांग के सारभूत यह 'परम पारिणामिकभाव' पूज्य गुरुदेवश्री की मङ्गल देशना का केन्द्र बिन्दु रहा है। इसी का अवलम्बन लेकर उनने चिर-मिथ्यात्व के विरुद्ध ऐतहासिक क्रान्ति का शंखनाद किया है। इसका चिन्तन ही इस युग के लिये वरदान बनकर आया है।

पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी में मुखरित इस अमूल्य निधि के पारखी श्री निहालभाई सोगानी ने अपने प्रचण्ड पौरुष से भेदज्ञान के दिव्य प्रकाश में इस चैतन्यज्योति का रसपान करके मुमुक्षु समाज के सामने अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया है। 'द्रव्यदृष्टि प्रकाश' में संकलित उनके दृष्टि प्रधान चिन्तन प्रसूत उद्‌गार दृष्टि और विषय के मधुरमिलन में प्रबल निमित्त हो सकते हैं। इन उद्‌गारों का संकलन करनेवाले मुमुक्षुभाईयों ने समाज पर उस समय महान उपकार किया था। अतः उनका जितना आभार माना जाए उतना कम है। ये उद्‌गार किसी प्रश्न के उत्तर में या किसी सन्दर्भ में व्यक्त किये गये हैं। वे उन सन्दर्भ-प्रश्नों का उल्लेख करना उस समय आवश्यक नहीं समझा गया। इन गूढ़ रहस्योंका भाव सरलतासे समझा जा सके अतः इनके सन्दर्भ में प्रश्न बनाकर इन उद्‌गारों को प्रस्तुत करने का प्रयास प्रशंसनीय है। एतदर्थ भाई रमेश कुमार जैन 'मङ्गल', ललितपुर-हाल सोनगढ़ बधाई के पात्र है।

आशा है नई रुचिवाले जिज्ञासुजन 'मङ्गलजी' के इस श्रम का भरपूर लाभ उठायेंगे और दृष्टिके विषय का यथार्थ भावभासन करके स्वानुभूति हेतु उद्यमवंत होंगे।

–पं. अभयकुमार जैन शास्त्री, देवलाली

## परम निश्चय से सात तत्त्व का स्वरूप

ज्ञानरूप जीवतत्त्व जीव ही कहावत है।
पर सों ज्ञान माने सो अजीव[१] पहिचानिए॥
आतम सो स्रवे[२] ज्ञान, याही मारो आस्रव।
याकी महिमातें संवरे[३], सो संवर बखानिये॥

ज्ञान रवों सर्वांगते निहारे[४], सो ही निर्जरा।
ज्ञान को स्वरूप भायो[५], तहा बंधि[६] रहिए॥
बंध को स्वरूप याहि आगम बखानत है।
ऐसे बंध[७] रहिवे तें मुकति[८] फल होत है॥

येही सात तत्त्व सब ज्ञान[९] मांहि लखवेतें।
ज्ञान ही को रूप सात तत्त्व मय लखाईये॥
भाषत ये ही ज्ञान भासे ज्ञायक स्वरूप रूप।
ज्ञायक अरु ज्ञान मांहि भेद नहीं लखाइये॥

ऐसो यह अभेद तत्त्व सो तो 'मैं' ही ज्ञायक हूँ।
ज्ञान अरु सात मांहि भेद न लखाईये॥
ज्ञान अरु ज्ञायक मांहि भेद नहीं देखत जे।
तिनखों सात तत्त्व ज्ञान माहिं ही दिखात है॥

निश्चय में अभेद ज्ञायक ज्ञान मांहि भेद सात।
एक सों अहं करत, सात ज्ञात होत है॥
सात खों विसारि[१०] जीव एक के रसिक होत।
एक के रसिक व्है के, आतम रस पीवत है॥

सात को स्वरूप 'मंगल' ज्ञान मांहिं भासत जो।
ज्ञान ही को रूप सात तत्त्वमय दिखात है॥

रमेश कुमार जैन 'मंगल', सोनगढ (ता. ३०-३-२०११)

---

१. अजीव तत्त्व २. वहे / निकले ३. सजे ४. देखे ५. रुचना ६. रुकना ७. ठहरना ८. मोक्ष ९. सामान्य ज्ञान १०. गौणकर



नमः सिद्धेभ्यः ।

# प्रश्नोत्तरी : द्रव्यदृष्टि-प्रकाश

**मैं 'ध्रुव' हूँ मुझको परिणति नमकर बनी पूज्य परमात्मा।**
**उसने सारे जगको बताया परमपूज्य 'ध्रुव' आत्मा॥**

प्र०–१ परिणाम कैसे होता है ?

उ0– **'परिणाम** (अपनी) **योग्यतानुसार हो जाता है** (उसका कर्त्ता स्वद्रव्य या गुण एवं निमित्त नहीं) **मैं वो** (परिणाम जितना ही) **नहीं।**

*बोल नं. 1*

प्र०–२ परिणाम अपनी योग्यतानुसार होता है इसका आशय क्या ?

उ0– इसमें किसीको ऐसा लगे कि क्या परिणाम जड़ में होता है ? अथवा निश्चयाभास सा लगता है । लेकिन ऐसा कहनेमें तो 'अपरिणामी' का जोर बताना है । (और पर्याय की स्वतंत्रता बतानी है) *बोल नं. 1*

प्र०–३ आप शुद्ध पर्याय को दृष्टि अपेक्षासे भिन्न कहते हैं या ज्ञानकी अपेक्षासे ?

उ0– दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न कहते हैं, ज्ञान की अपेक्षा से नहीं । दृष्टि करने के प्रयोजन में भिन्नता का जोर दिये बिना दृष्टि अभेद नहीं होती; इसलिए दृष्टि की अपेक्षा से ही भिन्न कहते हैं । और अपनी तो यही 'दृष्टिप्रधान' शैली है; सो इसीप्रकार ही कहते हैं । *बोल नं. 2*

प्र०–४ प्रमाणज्ञान किसे कहते है ? उसका विषय क्या है ?

उ0– निर्विकल्प होते ही अपनेमें से ही एक ज्ञान उघड़ता है जो

(सामान्य-विशेष) दोनों पड़खों (पहलुओं)को सहज जान लेता है उसी को प्रमाण ज्ञान कहते हैं। *बोल नं. 3*

प्र०–५ प्रमाणका विषय क्या है?

उ0– 'त्रिकाली अपरिणामी' एवं 'परिणाम' दोनों मिलकर ही पूर्ण एक वस्तु है; जो प्रमाण का विषय है। *बोल नं. 4*

प्र०–६ जैन और वेदांत के निष्क्रिय तत्त्व में क्या अंतर है?

उ0– वेदांत तो केवल निष्क्रिय.....निष्क्रिय कहते हैं, वे परिणाम को ही नहीं मानते हैं; तो निष्क्रिय भी जैसा है वैसा तो उनकी मान्यता में नहीं आता। यहाँ तो परिणाम को गौण करके निष्क्रिय कहा जाता है। *बोल नं. 4*

प्र०–७ वस्तु व्यवस्था समझने की विधि क्या है?

उ0– एक चक्र (वस्तु) के अनेक पासे (धर्म) हैं सभी पासे अलग अलग डिजायन के हैं। जब किसी एक पासे (धर्म) की बात चलती हो, तब दूसरे पासे की बात नहीं समझनी चाहिए। ऐसे वस्तु के अनेक धर्मों में से भिन्न भिन्न धर्मोंकी बात चलती हो, तब एक को दूसरे में मिलाकर, घोटाला नहीं करना चाहिए। *बोल नं. 5*

प्र०–८ अंत:तत्त्व और बर्हितत्वों के कथनों की अपेक्षायें बताने की कृपा करें?

उ0– (1) जब कर्म को अंत:तत्त्व कहें तब नोकर्म को बर्हितत्त्व कहेंगे (2) जब अशुद्धपर्यायको अंत:तत्त्व कहेंगे तब द्रव्यकर्म को बर्हितत्त्व कहेंगे (3) जब शुद्धपर्याय को अंत:तत्त्व कहेंगे तब अशुद्धपर्याय को बर्हितत्त्व कहेंगे (4) जब त्रिकाली ध्रुव को अंत:तत्त्व कहेंगे तब शुद्ध पर्याय को भी बर्हितत्त्व कहेंगे ऐसे सब (जगह) घटा लेना।



(नोट : जब शुद्धपर्याय बर्हितत्त्व है, ध्यान बर्हितत्त्व है, तब ध्रुवतत्त्व अंत:तत्त्व है | जब दो घर (धर्मों) की बात चलती हो। तब उसमें तीसरे घर की टांग (बात) डालसे से घोटाला हो जाता है। *बोल नं. 6*

प्र०–९ क्या मैं सिद्धपर्याय से भी महान हूँ?

उ0– (हाँ) सिद्ध (पर्याय) से भी अधिक हूँ क्योंकि सिद्ध (दशा) तो एक समय की पर्याय है; और मैं तो ऐसी–ऐसी अनंत पर्यायों का पिण्ड हूँ। *बोल नं. 7*

प्र०–१० क्या ज्ञायक (मैं) मेरुपर्वत से भी अडिग हूँ?

उ0– जैसे मेरुपर्वत अडिग है; 'मैं' भी वैसा ही अडिग हूँ। मेरु में तो परमाणु आते जाते हैं; लेकिन मेरे में तो कुछ भी आता–जाता नहीं—ऐसा मैं अडिग हूँ। *बोल नं. 8*

प्र०–११ मुझे मुक्ति तो चाहिए कि नहीं?

उ0– 'मैं वर्तमन में ही मुक्त हूँ, आनंद की मूर्ति हूँ आनंद से भरचक समुद्र ही हूँ–ऐसी दृष्टि हो, तो फिर मोक्ष से भी प्रयोजन नहीं; मोक्ष हो तो हो न हो तो भी क्या (पर्याय की इतनी गौणता दृष्टि के जोर में हो ही जाती है।) *बोल नं. 9*

प्र०–१२ ज्ञानी वर्तमान में तो मोक्ष की चाह करता है?

उ0– ज्ञानी को (ध्रुव में अहं के कारण) वर्तमान में ही अतीन्द्रिय आनंद आने से पर्याय में मोक्ष होगा ही, लेकिन मुझे तो उससे भी प्रयोजन नहीं। *बोल नं. 9*

प्र०–१३ ज्ञानी को कुछ भी करना कैसा लगता है?

उ0– कुछ (भी) करना सो मरने बराबर है। मुझे शुरु से ही 'कुछ' करने के भावमें मरने जैसा बोझा लगता था। शुभ परिणाम होते (तो) मैं भट्टी में जल रहा हूँ—ऐसा लगता था। *बोल नं. 10*

प्र०–१४ परिणामों में दुःख कब होता है ?

उ0– परिणाम बाहर की ओर जाये उसमें दुःख ही दुःख है, (जैसे) समुद्रके जलमेंसे एक बूंद उड़कर बाहर पड़े तो उस बूँद को रेत चूस कर खत्म कर देगी; और यदि गर्म रेत हो तो बूँद तुरंत खत्म हो जायेगी। (अंगत) *बोल नं. 10*

प्र०–१५ क्या शुद्ध पर्याय भी पर द्रव्य है ?

उ0– 'द्रव्य दृष्टि' की अपेक्षा से तो शुद्धपर्याय भी पर द्रव्य है। जब मेरे अस्तित्व में वो नहीं तो फिर राग की तो बात ही क्या ? (समयसार संवर अधिकार, गाथा १८१-१८३) *बोल नं. 11*

प्र०–१६ क्या मुझे अशुभ परिणाम से हानि और शुद्ध परिणाम से लाभ है ?

उ0– पर्याय में तीव्र अशुभ परिणाम हो या उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुद्धपरिणाम हो 'मेरे' में कुछ भी बिगाड़ सूधार नहीं होता, 'मैं' तो वैसा का वैसा ही (रहता) हूँ। *बोल नं. 12*

प्र०–१७ केवलज्ञान और मोक्ष प्रयोजनभूत है क्या ?

उ0– केवलज्ञान और मोक्ष से मुझे प्रयोजन नहीं (ज्ञायक के आश्रय /अहं से) वह तो हो ही जाता है। *बोल नं. 13*

प्र०–१८ ज्ञान का विषय (प्रमाण का द्रव्य) कितना प्रयोजनभूत है ?

उ0– ज्ञान का विषय दृष्टि के विषय का, प्रयोजन साधने जितना ही लक्ष्य मे लेना ठीक है, बाकी (इससे अधिक) उसका प्रयोजन नहीं है। *बोल नं. 14*

प्र०–१९ सुनने से कार्य सिद्धि होती है ?

उ0– सुन–सुन करके मिल जायेगा, यह दृष्टि झूठी है। (कार्य सिद्धि) अपने से होगी। सुनना, सुनाना, पढ़ना यह सभी (बर्हिमुखीभाव) बेकार हैं, यह हों तो भले हों, लेकिन उनका खेद होना चाहिए, निषेध आना चाहिए। *बोल नं. 15*



प्र०–२० पहले सुनना सभी अपेक्षायें जानना फिर पुरुषार्थ करना क्या यह ठीक है ?

उ0– मैं पहले तो सब सुन लूँ जान लूँ; पीछे पुरुषार्थ करुंगा, ऐसे पीछेवाले सदा पीछे ही रहेंगे। यहाँ तो वर्तमान इसी क्षण से ही (पुरुषार्थ) करने की बात है। *बोल नं. 16*

प्र०–२१ व्यवहारनय को अभूतार्थ कहने का क्या आशय है ?

उ0– व्यवहारनय को अभूतार्थ कहने से संक्षेप में परिणाम मात्र अभूतार्थ है–ऐसा कहा है; चाहे तो परिणाम अशुभ हो, शुभ हो या शुद्ध हो। *बोल नं. 17*

प्र०–२२ प्रत्येक द्रव्य की कार्य सीमा कितनी ?

उ0– अपने परिणाम तक ही अपनी (कार्य) सीमा है, इसके आगे तो कोई द्रव्य जा नहीं सकता। *बोल नं. 18*

प्र०–२३ क्या द्रव्य अपने परिणाम का कर्त्ता स्वयं है ?

उ0– परिणाम अपना है तो भी उसको आप खुद ही (कर्त्ता बुद्धिसे) उसे पलट नहीं सकते। (क्योंकि) परिणाम में कर्त्ताकर्मपने का धर्म है; अतः वह स्वयं पलटेगा ही। विभाव तो मेरेसे बहुत दूर है, यहाँ तो परिणाम (मात्र) भी मेरेसे भिन्न है। मैं तो अपरिणामी हूँ–एक समय के परिणाम के साथ नहीं बहता (पलटता)। *बोल नं. 19*

प्र०–२४ परिणाम बाहर की ओर क्यों झुकता है ?

उ0– जब दृष्टि बाहर झुकी है; दृष्टि का प्रसार अपने को छोड़कर बाहर में है; तो परिणाम भी बाहर झुकेगा और यदि दृष्टि अपने स्वभाव की ओर है, तो परिणाम भी अपनी ओर झुकेगा। *बोल नं. 19*

प्र०–२५ परिणाम को स्वतरफ तो पलटना होगा ?

उ0– मैं अपरिणामी हूँ (पलटाना) और पलटना मेरा धर्म ही नहीं है। वह तो परिणाम का (अपना) धर्म है; दृष्टि की अपेक्षा से शुद्ध परिणाम भी मेरे से भिन्न ही है ज्ञान उन्हें अपना अंश जान लेता है। अपने को तो परिणाम भी पलटना नहीं है। *बोल नं. 19*

प्र०–२६ प्रथम पात्रता का क्या स्वरूप है ?

उ0—अपने द्रव्य में दृष्टि को तादात्म्य करना, प्रसारना (अहं करना) बाह्य से तादात्म्य कर रही दृष्टि को अपने में तादात्म्य करना यही प्रथम पात्रता है। *बोल नं. 20*

प्र०—२७ पर का रस कब उड़ जाता है ?

उ0– जब एक बार आनंद की घूँट पी ली.....तब तो बार बार वही घूँट पीने के लिए अपनी ओर आना ही पड़ेगा। दूसरी किसी जगह परिणति को रस नहीं आयेगा; बार बार अपनी ओर ही आने का लक्ष्य रहेगा, दूसरा रस सब उड़ जायेगा। *बोल नं. 21*

प्र०–२८ पुरुषार्थ तो करना पड़ेगा ना ?

उ0– पुरुषार्थ करूँ......पुरुषार्थ करूँ—यह बात भी नहीं है, मैं वर्तमान में ही अनंत पुरुषार्थ का पिण्ड हूँ (ऐसा निर्णय होते ही) पर्याय द्रव्य की ओर ढल जाती है। इसलिए पर्याय की अपेक्षा से पुरुषार्थ करने का कथन आता है। *बोल नं. 22*

प्र०–२९ भगवान बनने का क्या उपाय है ?

उ0– मैं स्वयं ही वर्तमान में भगवान हूँ; भगवान होना भी क्या है? अपने स्वभावमें दृष्टि प्रसरते ही पर्याय मेरी ओर झुकते–झुकते, पर्याय में केवलज्ञान–सिद्धदशादि होती ही है; परंतु मुझे तो इससे भी प्रयोजन नहीं है। *बोल नं. 23*



प्र०–३० 'धारणा' का सम्यक्स्वरूप बतलाइये ?

उ0– पहले तो (तत्त्व की) धारणा बराबर होना चाहिए। धारणा में (इधर आत्मा का) लक्ष्य होना चाहिए, और धारणा अंतर में उतरे तभी सम्यग्ज्ञान होता है। वही धारणा का सम्यक् स्वरूप है। *बोल नं. 24*

प्र०–३१ पर्याय बुद्धि कैसे छूटे ?

उ0– अपने त्रिकाली अस्तित्व में अपनापन होने से पर्याय बुद्धि छूट जाती है। *बोल नं. 25*

प्र०–३२ क्या विभाव मेरे में होता है ?

उ0– विभाव तो मेरे से बहुत दूर है। यहाँ तो परिणाम (मात्र) भी मेरे से भिन्न है। 'मैं तो अपरिणामी हूँ, एक समय के परिणाम के साथ नहीं बहता (पलटता)। *बोल नं. 26*

प्र०–३३ द्रव्य को परिणामी कहें या अपरिणामी ?

उ0– 'परिणाम' परिणामी कहने में थोड़ा शब्द फेर हैं। परिणाम और परिणामी को बताने में भी परिणाम की ओर लक्ष्य चला जाता है। इसलिए परिणाम परिणामी नहीं परंतु 'अपरिणामी' और 'परिणाम' ऐसा कहो। *बोल नं. 27*

प्र०–३४ व्यवहार के कथनों का क्या प्रयोजन हैं ?

उ0– शास्त्रों में व्यवहार की कितनी बातें जीव स्वच्छंद में नहीं चढ़ जाए, इस हेतु से होती हैं। तो जीव उन बातों को पकड़कर घोटाले (भ्रम) में चढ़ जाता है। (अर्थात् उसे उपादेय मान लेता है)। *बोल नं. 28*

प्र०–३५ परिणामको स्व सन्मुख तो करना चाहिये ?

उ0– मैं परिणाम में नहीं जाता। परिणाम सहज ही मेरी ओर आता है। (यह समझने पर परिणाम स्व सन्मुख हो जाते हैं) *बोल नं. 29*

प्र०–३६ मोक्षमार्ग की शुरूआत बृद्धि एवं पूर्णता कैसे होती है ?

उ0– मैं वर्तमान में ही पूर्ण हूँ, कृतकृत्य हूँ, मुझे कुछ करना धरना ही नहीं है ऐसी दृष्टि होने पर परिणाम में आनंद का अंश (मोक्षमार्ग) प्रगट होता है; और बढ़ते बढ़ते पूर्णता (मुक्ति) हो जाती है। *बोल नं. 30*

प्र०–३७ शुद्ध परिणाम में द्रव्य व्यापक है कि नहीं ?

उ0– पूरा द्रव्य (प्रमाण) की अपेक्षा से देखा जाय तो द्रव्य परिणाम में व्यापक है। परंतु दृष्टि के विषय की अपेक्षा से तो अपरिणामीद्रव्य परिणाम में व्यापक नहीं है। *बोल नं. 31*

प्र०–३८ द्रव्य एवं पर्याय का स्वरूप समझाने की कृपा करें ?

उ0– दृष्टि का विषयभूतद्रव्य एकांत कूटस्थ ही है, पर्याय की अपेक्षा से पर्याय एकांते, अनित्य ही है। ('नित्य' द्रव्य का और 'अनित्य' पर्याय का स्वरूप है।) *बोल नं. 32*

प्र०–३९ निर्विकल्प उपयोग में कैसा आनंद आता है ?

उ0– निर्विकल्प उपयोग के सुख की तो बात क्या कहें! लेकिन समझने के तौर से जैसे गन्नेके रस की घूंट पीते हैं, वैसे आनंद का घूँट–एक के बाद एक चलती ही रहती है; उसमें से निकलने का भाव ही नहीं आता। *बोल नं. 33*

प्र०–४० ज्ञानी के शुभाशुभ परिणाम के काल में उसकी अंतर स्थिति कैसी होती है ?

उ0– अशुभ परिणाम के काल में इस (ध्रुवकी) ओर का झुकाव मंद होता है। शुभ परिणाम के काल में इस ओर (स्व तरफ)का थोडा ज्यादा झुकाव होता है। दृष्टि का झुकाव तो वैसा का वैसा ही (बना रहता) है। लड़ाई के काल में बाहर लड़ाई की क्रिया होती है और राग में अशुभराग की क्रिया होती है; पर 'मैं' तो मेरे में ही अचल रहता हूँ, मेरे में तो उस समय भी राग की क्रिया का अभाव है। *बोल नं. 34*

प्र०–४१ सच्चे निर्णय का स्वरूप समझाइये ?

उ0– मैं अडिग हूँ किसी से डिगने वाला नहीं हूँ—ऐसा निश्चय होने पर आनंद आना चाहिए तब ही निर्णय सच्चा है। बोल नं. *35*

प्र०–४२ क्या ज्ञानीको हर समय विकल्प से भेदज्ञान करना पड़ता है ?

उ0– (ज्ञानीको) हर समय विकल्प से भेदज्ञान करना नहीं पड़ता वह तो सहज रूप से हो जाता है(होता रहता है)। बोल नं. *36*

प्र०–४३ क्या ज्ञानी परसन्मुखता के समय स्वरूपाचरण से च्युत हो जाते हैं ?

उ0– दृष्टि द्रव्य में तादात्म्य हो जाने पर भी चारित्रपरिणति कुछ च्युत होकर पर की ओर चली जाती है, तो भी स्वरूपाचरण की च्युति नहीं होती। *बोल नं. 37*

प्र०–४४ श्रद्धा एवं चारित्रगुण किस क्रम से निर्मल परिणमते हैं ?

उ0– (स्वरूप की) दृष्टि (अहं) होने पर भी चारित्रगुण की योग्यता ही ऐसी होने से चारित्रगुण पूरा शुद्ध नहीं परिणम जाता। श्रद्धा गुण का स्वभाव ऐसा है कि एक ही क्षण में द्रव्य में पूरा का पूरा व्याप्त हो जाता है। (परंतु) चारित्रगुण का स्वभाव ऐसा है कि वह क्रम–क्रम से ही पूरा होता है। ऐसे दोनों गुणों के स्वभाव ही अलग–अलग है। बोल नं. *38*

प्र०–४५ दृष्टि स्वरूप में तादात्म्य होते ही राग की स्थिति कैसी हो जाती है ?

उ0– जब दृष्टि अपने स्वरूप में तादात्म्य होती है तो थोड़े काल तक राग आता तो है; लेकिन वह लँगड़ा हो जाता है, उसको आधार नहीं रहता। बोल नं 39

प्र०–४६ क्या मैं (ध्रुव) परिणाम के साथ चलायमान होता हूँ ?

उ0– 'मैं' तो कभी भी नहीं हिलनेवाला खूँटा हूँ। परिणाम आते हैं और जाते हैं, मगर 'मैं' तो खूटे की तरह अचलित ही रहता हूँ। *बोल नं. 40*

प्र०–४७ कहाँ देखनेसे पर्यायमें केवलज्ञान प्रगट होता है ?

उ0– बर्हिमुख होने से ज्ञान खिलता नहीं और अंतर्मुख होने से भीतर से ही केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। अपनी ओर ही देखने की बात है। *बोल नं. 41*

प्र०–४८ बस आत्मा को पकड़ने की बात है (आपका कहने का आशय भी यही है न)?

उ0– पकड़ना फकड़ना क्या? ''मैं तो स्वयं हूँ ही'' पकड़ना फकड़ना सब परिणाम की अपेक्षा से कहने में आता है। परिणाम अपनी ओर झुका तो परिणाम की अपेक्षा से आत्मा को पकड़ा–ऐसा कहने में आता है। *बोल नं. 42*

प्र०–४९ ज्ञान में प्रमाणिकता कैसे आये ?

उ0– अपने द्रव्य में दृष्टि तादात्म्य होते ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है; तब ज्ञान (अन्य) सभी बातें (यथार्थपने से) जान लेता है। *बोल नं. 43*

प्र०–५० स्व में दृष्टि हो और पर का रस हो क्या यह संभव है ?

उ0– जब अपनी ओर से खिसककर (स्व से दृष्टि हटकर) बाहर जाने



का निषेध है, तो अशुभ में जाकर पर में रस पड़ जावे तब तो दृष्टि अपने द्रव्य में रही ही कहाँ? वह तो पर में चली गई। (भोगों के परिणामों का रस मिथ्यात्व के सद्भाव का द्योतक है) *बोल नं. 44*

प्र०–५१ अनेकांत का हेतु क्या है ?

उ0– 'अनेकांत पण सम्यक् एकांत ऐवा निजपद की प्राप्ति सिवाय अन्य हेतुअे उपकारी नथी'—श्रीमद्जीका यह वाक्य मुझे बहुत प्रिय लगता है। *बोल नं. 45*

प्र०–५२ पहले दूसरों से सुनना समझना चाहिए ना ?

उ0– दूसरों से सुनना (समझना) मांगना–सब पामरता है, दीनता है, भिखारीपना है। मेरे में क्या कमी है, जो मैं दूसरे से माँगूं। ''मैं'' तो स्वयं ही परिपूर्ण हूँ। *बोल नं. 46*

प्र०–५३ सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर प्रकृति को भी हेय कहने की ताकत किसमें थी ?

उ0– अहो! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बंधता है वह भाव भी नुकशानकर्ता है......यह बात कहने की किसकी ताकत है? यह तो गुरुदेवश्री की ही सामर्थ्य है। *बोल नं. 47*

प्र०–५४ मुझे किससे लाभ हो सकता है ?

उ0– तीर्थंकर की दिव्यध्वनि से भी लाभ नहीं होता, तो फिर और किससे लाभ होगा? वह भी अपने को छोड़कर एक भिन्न विषय ही है (वास्तव में तो मुझे निर्मल पर्याय से भी लाभ नहीं) *बोल नं. 48*

प्र०–५५ क्या विकल्प एवं मन से सच्चा निर्णय हो सकता है ?

उ0– (पहले प्रथम भूमिका में) विकल्प और मन से किया हुआ निर्णय

सच्चा नहीं अपनी ओर दृष्टि को तादात्म्य करने पर ही अपनेसे किया हुआ निर्णय सच्चा होता है, पहले विकल्प से और अनुमान से (किया हुआ) निर्णय होता है, (परंतु) उसमें भी लक्ष्य तो अंतर में ढलने का होना चाहिए। *बोल नं. 49*

प्र०–५६ निज की अडिगता को उदा. से समझायें ?

उ0– जैसे इस देहाकार में स्थित आकाश अडिग है, हिलता–चलता नहीं वैसे ही 'मैं' भी अडिग हूँ 'मैं' तो किसीसे भी डिगनेवाला नहीं हूँ। *बोल नं 50*

प्र०–५७ ज्ञानी को अंदर से बाहर आने पर कैसा लगता है ?

उ0– अंदर में आनंद की घूँट पीते हुए बाहर में आना रुचे (गमे) ही किसको! बाहर में आते ही तो बोझा लगता है।

*बोल नं. 51*

प्र०–५८ चतुर्थगुणस्थानवर्तीको (निर्विकल्प) अनुभव कितने समय के अंतराल में होता होगा ?

उ0– ऐसे अनुभव के अंतराल की कोई मर्यादा नहीं है। वह तो यदि विशेष अशुभ में हो तो अंतराल लम्बा भी हो जाये और शुभ में हों तो जल्दी जल्दी भी अनुभव होवे। किसी को महीने में दश बार भी हो (सकता है)। *बोल नं. 52*

प्र०–५९ मतिश्रुत ज्ञान अंतर में कैसे ढले ?

उ0– 'मैं' ही चैतन्य गठरी हूँ ऐसी पकड़ हो जाने से मतिश्रुतज्ञान अंतर में ढल जाता है; अतः (उपदेश शैली में) अंतर में ढलने को कहने में आता है। *बोल नं. 53*

प्र०–६० मुझे पहले तो सब समझना चाहिए ?

उ0– (मात्र इतना समझो कि) मैं वर्तमान में ही समझका पिण्ड हूँ।



(शेष आगमज्ञान बढ़ाने का भाव तो नासमझी है) *बोल नं. 54*

प्र०–६१ क्या ज्ञानी को दुःख का वेदन नहीं होता ?

उ0– सम्यग्दृष्टि को दुःख का वेदन होता है; लेकिन अपने स्वभाव की अधिकता के वेदन में उस वेदन की गौणता हो जाती है। ज्ञान में, शांति के वेदन के साथ–साथ दुःख का वेदन आता है; परंतु वह वेदन मुख्य नहीं होता–ज्ञानी को अपने स्वभाव की ही अधिकता रहती है; अपने स्वभाव की अधिकता कभी नहीं छूटती। *बोल नं. 55*

प्र०–६२ सम्यग्दर्शन के लिए पांचसमवाय तो मिलाना पड़ेंगे ना ?

उ0– जब दृष्टि अपने स्वभाव में प्रसर जाती है; तब पाँचों समवाय अपने ज्ञान में ज्ञेय हो जाते हैं। (पांच समवाय मिलाये नहीं जाते) *बोल नं. 56*

प्र०–६३ ज्ञानी उत्पाद-व्यय से उदास कैसे रहते हैं ?

उ0– ज्ञानीने नित्य (–ध्रुव) में अपना अस्तित्व स्थापित किया है अतः वह उत्पाद व्यय के साथ नहीं चला जाता परंतु उत्पाद व्यय को जान लेता है लेकिन अज्ञानी उत्पाद व्यय के साथ–साथ चलता जाता है (स्वयं को पर्यायरूप वेदता रहता है) *बोल नं. 57*

प्र०–६४ क्या पर, ज्ञान पर्याय का कारण है ?

उ0– ज्ञान की पर्याय आती है अंदर से परंतु (अज्ञानी को) बाहर का लक्ष्य होने से ऐसा दिखता है कि मानो पर्याय बाहर से आती हो; इसलिए अज्ञानी को परसे ज्ञान होता है— ऐसा भ्रम हो जाता है। *बोल नं. 58*

प्र०–६५ आप पू. गुरुदेव श्री को तीर्थंकरो से भी अधिक क्यों कहते हो ?

उ0– अनंत तीर्थंकर हो गये, लेकिन अपने को गुरुदेवश्री ही

सबसे अधिक हैं । जैसे कि–अपने को धन की जरूरत हो और कोई लखपति अपनी जरुरत अनुसार धन दे देवे, तो वह (लखपति) अपने लिए तो अन्य करोड़पति से अधिक है । ऐसे ही गुरुदेवश्री अपने लिए तो तीर्थंकर से भी अधिक है । अपना हित तो इनसे हुआ है । *बोल नं. 59*

प्र०–६६ द्रव्यलिंग धारण करने पर भी मूल भूल क्या रहती है ?

उ0– द्रव्यलिंगी होकर ग्यारह अंग तक पढ़ लेते हैं; परंतु त्रिकाली चैतन्यदल में अपनापन स्थापित नहीं करते; यही भूल है; दूसरी कोई भूल नहीं । *बोल नं. 60*

प्र०–६७ पू. गुरुदेवश्रीने निज चैतन्यकी दृष्टि बिना मात्र स्वाध्याय को कैसा बताया है ?

उ0– पू. गुरुदेवश्रीने शास्त्र पढ़ते समय कहा है कि—जैसे व्यापार में (रोकड़-)वही के पन्ने फेरते हैं वैसे ही ये पन्ने है; कोई फर्क नहीं; यदि इधर (निज चैतन्य ध्रुवकी) दृष्टि नहीं, तो दोनों समान हैं । *बोल नं. 61*

प्र०–६८ तीर्थंकर की वाणी अभी और भविष्य में मिलती रहे ऐसा मानने में क्या नुकसान हैं ?

उ0– तीर्थंकर (का) योग और वाणी मिले तो ठीक है, भविष्य में भी इसी भाव से मिलेगी–ऐसे उसमें हौंस (उत्साह) आता है तो उससे कैसे छूटेगा ? लाभ मानता है तो कैसे छोड़ेगा ? इससे (इस अभिप्राय में) नुकसान ही है, लाभ नहीं लाभ तो अपने से ही है वर्तमान में ही खुद से लाभ है ऐसा जोर न होवे तो पर में अटक जायेगा । *बोल नं. 62*



प्र०–६९ आत्मानुभव होने के बाद क्या परिणाम स्वतः मर्यादित हो जाते है ?

उ0– करना धरना नहीं रहा जो पर्याय आने वाली है वह योग्यतानुसार आ जाती है । परंतु उधर उसका लक्ष्य ही नहीं लक्ष्य तो इधर का (ध्रुव) है । अंतर में एकत्व हुआ तो (स्वतः) परिणाम मर्यादित हो जाते हैं ।

लेकिन मर्यादित ही होता है.....होता है ऐसा कहने से उसकी दृष्टि में परिणाम को मर्यादा में रखनेका ही प्रयत्न रहता है; अर्थात् परिणाम को ही देखता रहता है और परिणाम की मर्यादा को देखते रहने से अपरिणामी का जोर छूट जाता है । इसीलिए कहते हैं कि जो परिणाम होनेवाला है वह ही आता (होता) है । *बोल नं. 63*

प्र०–७० सुख की तीव्र प्यास की क्या पहचान है ?

उ0– तीव्र प्यास लगे तो जैसे तैसे बुझाने का प्रयत्न किये बिना रहे ही नहीं । (अतः कहते हैं) तीव्र प्यास (जिज्ञासा/रुचि) लगनी चाहिए । *बोल नं. 64*

प्र०–७१ क्या विचार–मनन घूँटन करते करते अंतर में आ सकते ?

उ0– पर्याय में बैठकर घूँटन मनन करने में पर्याय में ठीकपना रहता है । और द्रव्य में बैठने से घूँटन मनन सहज होता है; घूँटन आदि में जोर नहीं रहता, सहज होता है; जोर तो इधर का रहता है । पर्याय में बैठकर घूँटन आदि करने से अंतर में नहीं जा सकते । *बोल नं. 65*

प्र०–७२ आपको स्वानुभव के पूर्व विकल्प कैसे लगते थे ?

उ0– मुझे पहले से इन्द्रियविषयों की ओर का रस नहीं था; एवं विकल्पों में कषाय की भट्टी जलती हो ऐसा लगता था;

ऐसे वेदन में वो (शांति) क्या है.....क्या है? ऐसे विचारों की धुन में रहता था, मुझे शहर के खास व परिचित रास्तों के अलावा किसी रास्ते आदि का पता नहीं है और कई बातों का ख्याल नहीं रहता था। *बोल नं. 66*

प्र०–७३ आपके विचारों का मार्गदर्शन किससे हुआ?

उ0– विचारों का जोर पहलेसे ही था, उसमें तीक्ष्णता (तो) थी दिगम्बर शास्त्र देखे तो इधर से नीकला और उधर क्रियाकाण्ड में पड़ा परंतु उसमें कोई शांति नहीं मिली, तो वह भी छोड़ दिया। बाद में ''आत्मधर्म'' देखते–ही चोट लगी और सब बात ख्याल में आने लगी। *बोल नं. 66*

प्र०–७४ हम सबको मोक्षमार्ग का मसाला किसने तैयार किया है?

उ0– सब बात का मसाला गुरुदेवश्री ने तैयार कर रखा है; जिससे कोई बात विचारनी नहीं पड़ती, नहीं तो, साधक हो तो फिर भी (उसे) मसाला तैयार (शास्त्रों के कथनों में हेय उपादेय का विचार) करना पड़ता है। *बोल नं. 67*

प्र०–७५ अनुभव होने के बाद परिणामों में विवेक हो जाता है न?

उ0– विवेक की बात एक बाजू रखो, एकदफा विवेक को छोड़ दो, परिणाम मात्र ही मैं नहीं; ''मैं'' तो अविचलित खूँटा हूँ; मेरे में क्षणिक अस्तित्व है ही नहीं। विवेक के बहाने भी जीव परिणाम में एकत्व करते हैं। *बोल नं. 68*

प्र०–७६ क्या कषायों की मंदता होने से लाभ होता है?

उ0– कषाय की मंदता में थोड़ा विषय छूटे तो इसमें ठीक मानने लगते हैं; लेकिन (अच्छा लगना) वह भी तीव्र कषाय ही है, उसमें भी कषाय (का रस) भरा पड़ा है। *बोल नं. 69*



प्र०–७७ शुरूआतवाले को अनुभव के लिए क्या उपाय है?

उ0– ''मैं'' परिणाम मात्र नहीं हूँ, त्रिकाली ध्रुवपने में अपनापन स्थाप देना यही उपाय है *बोल नं. 70*

प्र०–७८ शास्त्रों में तो प्रयत्न करना प्रयत्न करना ऐसी बात आती है?

उ0– प्रयत्न करने के लिए कहने में आता है प्रयत्न होता भी है; लेकिन प्रयत्न भी तो पर्याय है। मैं तो पर्याय मात्र से भिन्न हूँ, प्रयत्न क्या करें? (प्रयत्न तो) सहजरूप होता है। प्रयत्न आदि का होना, पर्याय का स्वभाव है। ''मैं'' उसमें न आता हूँ न जाता हूँ; ''मैं'' त्रिकाली हूँ;—ऐसी दृष्टि में प्रयत्न सहज होता है। *बोल नं. 71*

प्र०–७९ अंतर में जाने को विचार मंथन तो करना चाहिए?

उ0– विचार–मंथन (से) भी थक जायें, शून्य हो जायें; तब अनुभव होता है। मंथन भी तो आकुलता है। एकदम तीव्र धगश से अंतर में उतर जाना चाहिए। *बोल नं. 72*

प्र०–८० रामचन्द्रजी को सीता के लिए लड़ने का भाव आया; परंतु धर्मराज (युधिष्ठिर) को द्रोपदी की साड़ी खींची जाने पर भी बचाने का भाव नहीं आया–इसका क्या कारण?

उ0– वह तो परिणामों की योग्यता ही ऐसी भिन्न भिन्न होती है। अनेक प्रकार के कषाय भावों में से जो होने वाले हैं वो होते हैं उनको करें-छोड़ें क्या? सम्यग्दृष्टि को परिणाम मात्र से भिन्नता रहती है। 'मैं करने वाला ही नहीं हूँ'— ऐसा रहना खास बात है। *बोल नं. 73*

प्र०–८१ शास्त्रों में परिणाम सम्हालने की बात आती तो है न ?

उ0– शास्त्रों में परिणाम देखने की बात आती है, तो (अज्ञानी) परिणाम देखते रहते हैं; ध्रुव वस्तु रह जाती है। परिणाम को ही देखते रहने में परिणाम के साथ एकता होती है. परिणामी में एकता नहीं रहती–अनित्य (को देखने) में नित्य(का देखना) चला (छूट) जाता है।

पर्याय की शुद्धि ऐसे हो...ऐसे हो, ऐसे पर्याय की बात में रस पड़ जाने से नित्य का जोर नहीं रहता; (क्योंकि) पर्याय में जोर करने की (तो) जो आदत पड़ी है। *बोल नं. 74*

प्र०–८२ प्रमाण ज्ञान से अपना प्रयोजन कैसे सधे ?

उ0– आखी वस्तु (प्रमाण का विषय) बताने से नित्य और अनित्य बताने में आते हैं; इसमें अनित्य अंग दूसरे (द्रव्य) का नहीं है इतना बताने के लिए है। परंतु दृष्टि का विषय तो 'नित्य ही है' और 'अनित्य' मेरे से भिन्न ही है। उसका (उत्पाद-व्यय) भाव और मेरा (ध्रुव) भाव विरुद्ध है। *बोल नं. 75*

प्र०–८३ किस अपेक्षा अपने को देखने से अचलपना लगे ?

उ0– शक्ति की तरफ देखें तो इतना भारी भारी लगता है कि सम्पूर्ण जगत फिर जावे तो भी वह नहीं फिर सकता है ऐसा धनरूप है; उसमें कुछ विचलितता ही नहीं होती। *बोल नं. 76*

प्र०–८४ अभेद द्रव्य पर दृष्टि क्यों नहीं जाती ?

उ0– परिणाम में बैठ कर शक्ति को देखता है. शक्ति ऐसी है......ऐसी है; उसमें तो देखनेवाला और शक्ति दो अलग–अलग चीज हो जाती है। जैसे दूसरा दूसरे की बात करता हो वैसा हो जाता है। *बोल नं. 77*



प्र०–८५ उदाहरण से समझायें कि त्रिकालीदल पर्याय के परिणमन से अत्यंत अप्रभावी रहता है ?

उ0– दर्पण में जो पर्याय दिखती है, वह तो ऊपर ऊपर है, अंदर में जो दल पड़ा है वह तो जैसा का तैसा है, वह पर्यायरूप होता ही नहीं। ऐसे (ही) त्रिकाली स्वभाव का दल वैसा का वैसा ही है पर्याय में आता ही नहीं। *बोल नं. 78*

प्र०–८६ श्रीमद्जीने श्रद्धा अपेक्षा मोक्ष कहा वह क्या है ?

उ0– श्रद्धा में त्रिकालीपना आ गया तो विकल्प से भिन्नता हो गई। वही (श्रद्धा अपेक्षा) मुक्ति है। (फिर) चारित्र में मुक्ति तो हो जायेगी। *बोल नं. 79*

प्र०–८७ वस्तु का लक्ष्य होने पर मुख्यता किसकी रहती है ?

उ0– लक्ष्य और उसका ध्येय दूसरा होने से वस्तु दूसरी दिखती है; अतः लक्ष्य की पर्याय से देखना नहीं है। 'मैं ही स्वयं वस्तु हूँ' ऐसे देखने से लक्ष्य की पर्याये गौण हो जाती है; तब उस पर्याय पर वजन नहीं जाता, मुख्यता नहीं आती, उसमें मुख्यता तो त्रिकालीपने की रहती है। *बोल नं. 80*

प्र०–८८ हमारा अस्तिरूप कर्तव्य क्या हो ?

उ0– बस एक ही बात है कि ''मैं'' त्रिकाली हूँ ऐसे जमे रहना चाहिए। पर्याय होने वाली हो सो योग्यतानुसार हो जाती है, 'मैं' उसमें नहीं जाता। क्षयोपशम हो न हो, याद रहे न रहे; परंतु असंख्यप्रदेश में प्रदेश-प्रदेश में व्यापक हो जाना चाहिए। *बोल नं. 81*

प्र०–८९ भगवान की वाणी बहुत जोरदार होगी ?

उ0– वाणी में कहाँ जोर होता है; अपने में जोर हो तो वाणी में जोर का आरोप देते हैं। *बोल नं. 82*

प्र०–९० द्रव्यलिंग लेने पर भी क्या भूल रह जाती है ?

उ0– द्रव्यलिंगी को त्रिकाली के प्रति उत्साह नहीं आता उत्साह आता तो 'त्रिकाली' हो जाता। *बोल नं. 83*

प्र०–९१ कर्त्ताबुद्धि वाले की आदत कैसी होती है ?

उ0– कुछ करे नहीं तो गमे नहीं; ऐसी आदत (कर्त्ताबुद्धिवालों) की हो गई है। लेकिन कुछ करें तो गमे नहीं ऐसा होना चाहिए। *बोल नं. 84*

प्र०–९२ आत्मप्राप्ति हेतु क्या क्या चाहिए ?

उ0– (प्रथम तो) रुचि की आवश्यकता चाहिए। दरकार (जरुरत) होना (लगना) चाहिए; (विकल्पों से) थकावट होना चाहिए; तीव्र प्यास (तालावेली) लगे तो ढूढे ही। *बोल नं. 85*

प्र०–९३ प्रयत्न कब तक चालू रखना चाहिए ?

उ0– जब तक अंदर में डुबकी नहीं मारता, वहाँ तक प्रयत्न चालू रखना चाहिए। *बोल नं. 86*

प्र०–९४ विकल्पात्मक रुचि एवं अभेदकी रुचि का क्या स्वरूप है ?

उ0– (विकल्पात्मक) रुचि बढ़ती है, ऐसे (विकल्पात्मक परिणाम के) लक्ष्य में भी पर्याय की महत्तता होती है; उसमें 'मैं पना' (अहम्‌पना) दिखता है तो त्रिकाली में नहीं जम सकते। यह तो विकल्पवाली रुचि है। 'मैं' तो परिणाममात्र से भिन्न हूँ' ऐसे त्रिकाली का अनुभव होना, वह ही अभेद की रुचि है। *बोल नं. 87*

प्र०–९५ द्रव्य और पर्याय दोनों का ज्ञान क्यों ? एवं पर्याय की प्रधानता से क्या हानि है ?

उ0– कोई एकांत से वेदांत में नहीं खींच जावे, इसलिए दोनों बातें बताई है। पर्याय दूसरे में नहीं होती, कार्य तो पर्याय में ही होता है; ऐसा कहें तो वहाँ चोंट जाते है— *बोल नं. 88*

प्र०–९६ यह चिंता क्यों रहती है, ऐसा होना चाहिए, ऐसा क्यों होता है ?

उ0– ऐसा तो है न! ऐसा तो होना चाहिए न! अरे! भाई क्या होना चाहिए ? छोड़ दे सब बातें जानने की 'मैं तो त्रिकाली ही हूँ;' उत्पाद व्यय कुछ मेरे में है ही नहीं। (यही निर्णय होना चाहिए) *बोल नं. 88*

प्र०–९७ हम विचार में बैठते हैं, मैं ऐसा हुँ, मैं ऐसा हुँ तो ऐसा करते करते है, घण्टे आधा घण्टे में थकान लगती है सों क्यों ?

उ0– विकल्पमें तो थकान लगे ही न। 'मैं' ऐसा हुँ ऐसा अनुभव करने में शांति (आराम) है। *बोल नं. 89*

प्र०–९८ अनुभव के लिए कोई 'मास्टर की' देनेकी कृपा करें ?

उ0– एक ही मास्टर की (Master Key) है सब बातों में सभी शास्त्रों में एक ही सार है—''त्रिकाली में अपनापन जोड़ देना। *बोल नं. 90*

प्र०–९९ अनुभव के काल में राग से भिन्न आत्मा जानने में आता है या नहीं ?

उ0– आनंद के अनुभव में राग से भी भिन्न चैतन्यगोला छुट्टा अकेला अनुभव में आता है, उसके आनंद की बात क्या करें !! अंदर से निकलना ही गमे नहीं, बाहरमें आते ही भट्टी भट्टी लगे। *बोल नं. 91*

प्र०–१०० पहले पक्का निर्णय होना चाहिए ना ?

उ0– नहीं। पक्का निर्णय नहीं, लेकिन (सच्चा) यथार्थ निर्णय

कहो। यथार्थ निर्णय होने के बाद ही निर्णय में पक्कापन होता है फिर अनुभव होता है। *बोल नं. 92*

प्र०–१०१ सामान्य का विचार तो ज्यादा चले नहीं और विशेष के विचार में तो निर्विकल्पता होती नहीं (तब हम कहाँ जायें) ?

उ0– ''मैं शुद्ध हूँ ऐसा हूँ''—ऐसे विकल्प करने की बात नहीं है और विचार भी तो एक समय की पर्याय में होता है। यहाँ तो 'मैं' ऐसा हूँ–ऐसे त्रिकाली में अपनापन होकर, अनुभवपूर्वक परिणमन हो जाना चाहिए। विचारादि तो पर्याय का स्वभाव होने से चलता ही है, परंतु जोर ध्येय (त्रिकाली) स्वभाव की ओर रहता है; तो परिणति त्रिकाली की ओर ढल जाती है। *बोल नं. 93*

प्र०–१०२ विशेष शुभभाव होने से स्वरूप में स्थिरता विशेष होती है क्या ?

उ0– (नहीं।) चौथा गुणस्थानवाला जीव द्रव्यलिंग धारता है फिर भी स्थिरता कम और पंचमगुण स्थानवाला (गृहस्थ) अशुभ में विशेष हो फिर भी (चौथे गुणस्थान वाले की अपेक्षा उसकी) स्थिरता विशेष है। क्योंकि चौथे गुणस्थानवाले द्रव्यलिंगी को शुभ में रस अधिक है, और बाह्य उपयोग भी अधिक है; जबकि पांचवें गुणस्थान वाला अशुभ भाव में अधिक होते हुए भी (उसे) अंतर में ढलन अधिक रहती है। *बोल नं. 94*

प्र०–१०३ चौथे गुणस्थानवाले को वस्तु का अनुभव है और स्थिरता का प्रयत्न भी करता है फिर भी अनुभव में काल क्यों लगता है ?

उ0– चारित्र की पर्याय में इतनी अस्थिरता है; पुरुषार्थ की कमी है, पर्याय की ऐसी योग्यता है लेकिन (फिर भी) दृष्टि में



उसकी गौणता है। (मैं) वर्तमान में ही पूर्ण हूँ इसमें पर्याय की कमती बढ़ती गौण है। *बोल नं. 95*

प्र०–१०४ अज्ञानी कहाँ अटका रहता है ?

उ0– अज्ञानी, पर्याय में ही अपनापन, संतोष, अधिकता आदि रखते हैं। पर्याय में उल्लास तो है न! पर्याय में विशेषता तो है न! पर्याय ने द्रव्य का माहात्म्य तो किया न। पर्याय अंतर में तो ढलती है न, इस–इस तरह किसी न किसी प्रकार पर्याय में ही वजन (प्रीति) रखता है। लेकिन पर्याय से हटकर, मैं तो त्रिकाली दल जैसा का तैसा हूँ; परिणाममात्र मेरे में नहीं हैं—ऐसे ध्रुवपने में अधिकता (सर्वस्वता) नहीं थापते। कारण कि वेदन में तो पर्याय आती है और द्रव्य तो अप्रगट है, अप्रगट को तो नहीं देखता है, पर्याय में ही अपनापन रखता है। *बोल नं. 96*

प्र०–१०५ तब पर्याय से एकत्व कैसे छूटे ?

उ0– किसी भी प्रकार की पर्याय हो–सुख अनंत हो या ज्ञान अनंत हो या वीर्य अनंत हो तो भी 'मुझे' कुछ परवाह नहीं ''मैं'' तो स्वभाव से सुख स्वरूप ही हूँ। ऐसे ध्रुव स्वभाव में ही अधिकपने का वेदन करना है। और शुद्ध पर्यायोंको भी गौण करना है–गौणपने वेदन करना है। ध्रुव वस्तु में 'मैं' पना स्थापित किये बिना पर्याय से एकत्व नहीं छूट सकता। *बोल नं. 96*

प्र०–१०६ आत्माके नित्य-अनित्य दोनों स्वरूप को ठीक जाने तो अनुभव हो सकता है क्या ?

उ0– अरे! मैं नित्य ही हूँ ऐसा जोर देना तो भूल गया। इस अपेक्षा से नित्य हूँ, इस अपेक्षा से अनित्य हूँ ऐसे दोनों

ही ठीक (उपादेय) है ऐसा (अज्ञानी) कहते हैं, तब क्या रहा? अनादि का जो (मिथ्यात्व) था वही रहा। *बोल नं. 97*

प्र०–१०७ वस्तु की प्राप्तिके पहले उसका विचार और मनन तो होना चाहिए ?

उ0– विचार–मनन से वस्तु प्राप्त नहीं होती है। क्योंकि यह पर्यायें बर्हिमुखी मन के संगवाली हैं, वस्तु अंतर्मुख 'ध्रुव' है। (उसमें सीधा अहं ही होता है) *बोल नं. 98*

प्र०–१०८ पर्याय के प्रति साम्यभाव कब आता है ?

उ0– चैतन्यदल में असंख्यप्रदेशों में प्रसर जाने से पर्यायें दिखतीं ही नहीं है; (अर्थात्) ऐसी पर्यायको छोड़कर ऐसी पर्याय करूँ–ऐसा नहीं होता। (अतः) पर्याय प्रति साम्यभाव आ जाता है। *बोल नं. 99*

प्र०–१०९ ''किसी जीव के अलावा सामान्यतः सभी जीवों को मार्ग के क्रम का सेवन करना पड़ता है'' इसमें श्रीमद्जी क्या कहना चाहते हैं ?

उ0– क्या क्रम ? (हँसते हँसते) कोई जीव सीधा अनुभव करके वस्तु को पकड़ लेता है; और बहुत से जीवों की परिणति चंचल होती है, इसलिए धीरे धीरे शास्त्र आदि में रुकते रुकते इधर (अंतर में) ढलते हैं; इसे क्रम का सेवन कहा है।
*बोल नं. 100*

प्र०–११० भगवान की वाणी सुनने से तो लाभ होता है ?

उ0– (नहीं !) भगवान की वाणी सुनने में अपना नाश होता है जैसे स्त्री का विषय है उसी प्रकार यह भी (पर) विषय है। (परलक्ष्य में आत्मगुणों का घात ही होता है)(मोक्षपाहुड गाथा-१६)
*बोल नं. 101*



प्र०–१११ अंदर का माहात्म्य अंतर से कैसे प्रगटे ?

उ0– असल में बात तो यह है कि सुनने से जो माहात्म्य आता है–वह नहीं, किन्तु अंदर से सहज रूप से (स्व का) माहात्म्य आना चाहिए। (बाहर से) तीव्र थकावट हो तो अंतर से माहात्म्य आता ही है। *बोल नं. 102*

प्र०–११२ अधिकता(मुख्यता) और जोर(सर्वस्व) किसमें होना चाहिए ?

उ0– अपरिणामी में सदा जोर आना चाहिए। परिणाम में विकल्प से हटने का और आह्लादरूप अनुभव में जाने का भाव होता है, लेकिन अधिकता इसमें नहीं; अधिकता तो त्रिकाली में ही रहनी चाहिए। *बोल नं. 103*

प्र०–११३ क्या श्रवण वांचन से सहजभाव पकड़ में आता है ?

उ0– श्रवण–वांचन तो सब ऊपर ऊपर की बातें है; अंदर में से 'सहजरूप' (भाव पकड़ में) आना चाहिए। *बोल नं. 104*

प्र०–११४ दातार बनाना चाहिए या मांगने वाला ?

उ0– यहाँ तो दातार हो जाने की बात है। यहाँ–(वहाँ) से ले लूं ऐसी बात ही नहीं। एक बार लाभ मिला तो दूसरीबार भी लाभ मिल जायेगा, यह प्रत्यक्ष लाभ मिल रहा है न ऐसा ऐसा सोच के (अज्ञानी) उसमें ही रुक जाता है। अंतर के दातार की बात तो नाम मात्र (रह जाती) और बाहर के दातार की मुख्यता (हो जाती)। *बोल नं. 105*

प्र०–११५ सत्संग प्रारम्भ भूमिका में तो चाहिए| यह मानने में क्या हानि है ?

उ0– शास्त्रों में बात आये कि बर्फ के संयोग से पानी ज्यादा ठंडा होता है; ऐसे अधिकगुणवान के संग में रहने से ज्यादा

लाभ होता है—ऐसा सुनकर वहाँ अज्ञानी चौंट जाता है.......(और) असंग की बात छोड़ दी। गुणहीन का संग छोड़कर गुणवान का संग किया, परंतु असंगता रह गई। (सदैव असंगता का अभिप्राय होना चाहिए) *बोल नं. 106*

प्र०–११६ निमित्त के कथन में अज्ञानी की भूल क्या ?

उ0– शास्त्रों में अनेक तरह के कथन आते है तो अज्ञानी उनमें उलझ जाता है। लेकिन निश्चय की बात मुख्य करके, निमित्त का (मात्र) ज्ञान कराना था यह भूल जाता है।

*बोल नं. 107*

प्र०–११७ अज्ञानी असंग स्वभाव में क्यों नहीं आ पाता ?

उ0– क्योंकि अनादि से संग का अभ्यास है न। इससे एक (अशुभ का) संग छोड़कर दूसरा (शुभ का) संग पकड़ लेता है।

*बोल नं. 107*

प्र०–११८ स्वानुभव को सरल उदाहरण से समझाये ?

उ0– स्वानुभव की बात क्या कहें!! एक दफा तो बिजली के करंट की माफिक अंदर में उतर जाना चाहिए। जैसे करंट का काल थोडा फिर भी सारा शरीर झनझना उठता है; उसी तरह असंख्य प्रदेश में आनंद आनंद हो जाता है। पीछे शुभाशुभ विकल्प आते है; परंतु अनुभव में से छूटना न चाहे तो भी छूट जाता है। छूट जाये तो छुटो.....मगर मैं तो यह (त्रिकाली अपरिणामी) ही हूँ। *बोल नं. 108*

प्र०–११९ शास्त्रों का सत्यभाव (अभिप्राय) ख्याल न आनेसे क्या हानि होती है ?

उ0– सब शास्त्र पढ़ लेवें तो भी अनुभव बिना उनका भाव ख्याल में नहीं आता; सब अपेक्षायें तो जान लेवें ऐसा



(अज्ञानी) उसमें (जानपने) ही फँस जाता है। *बोल नं. 109*

प्र०–१२० क्या क्षणिक सुख दुःख में ज्ञानी अपने को सुखी दुःखी मानते हैं ?

उ0– (अज्ञानीको) त्रिकाली का जोर नहीं तो क्षणिक शुभाशुभ में पूरा चला जाता है। क्षणिक दुःख आया तो त्रिकाली दुःख मानने लगे, क्षणिक सुख आया तो त्रिकाली सुख मानने लगे। (ज्ञानी को) जो त्रिकाली में अपनापन हुआ तो क्षणिक पर्याय जो योग्यतानुसार होने वाली है वह हो.......'मैं' उसमें नहीं.....खिसकता। *बोल नं. 110*

प्र०–१२१ 'जो होनेयोग्य हो वही होता है' ऐसा मानकर ज्ञाता द्रष्टा रहना; सुखी होने का यही सच्चा उपाय है क्या ?

उ0– ऐसे (उपरोक्त) विकल्प से ज्ञाता मानकर (जो) होने वाला था सो हुआ–ऐसा मानकर (ऐसे) समाधान में (जो) सुख मानते हैं वह(सुख) तो जैसे अघोरी मांस खाने में सुअर विष्टा खाने में, पतंगा दीपकमें सुख मानता है–वैसा है। निर्विकल्प अनुभव बिना धारणा में ठीक मानता है, सुख मानना यह तो कल्पना मात्र है, वास्तविक सुख नहीं। 'निर्विकल्प अनुभव होते ही ज्ञाताद्रष्टा हो सकता है।'

*बोल नं. 111*

प्र०–१२२ पू. गुरुदेव श्री ने तत्त्वों का कितना खुलासा किया है ?

उ0– पूज्य गुरुदेवश्रीने इतना स्पष्ट कर दिया है कि कमी नहीं रखी, सूक्ष्म (से सूक्ष्म) पहलुओ का भी पूरा पूरा खुलासा किया है। *बोल नं. 112*

प्र०–१२३ 'पुरुषार्थ करना' यह कहने का आपका क्या आशय है ?

उ0– कोई स्वच्छंदता न कर लेवे, इसलिए 'पुरुषार्थ करना' ऐसा कहा है। त्रिकाली में अपनापन होने में पुरुषार्थ होता ही

है लेकिन 'मैं इस पर्याय जितना नहीं हूँ मैं' तो त्रिकाली दल ही हूँ। *बोल नं. 113*

प्र०–१२४ पुरुषार्थ से कार्य होता या काल लब्धि आने पर?

उ0– योग्यता हो तो सुनते ही सीधा अंतर में उतर जाते हैं इसलिए कहते हैं कि ऐसी उनकी काललब्धि है तब अज्ञानी कहता कि अरे, पुरुषार्थ को उड़ा दिया। पर, अरे! भाई पुरुषार्थ इससे जुदा थोड़े ही है? *बोल नं. 113*

प्र०–१२५ निर्विकल्पता होने पर क्या दिखता है?

उ0– जो निर्विकल्पता होती है उसमें तो पूरा जगत, देह, विकल्प उघाड़ (क्षयोपशमज्ञान) आदि कुछ दिखता ही नहीं; एक खुद ही खुद दिखता है। अंतर में जायें तो बाहर का कुछ दिखे ही नहीं। *बोल नं. 114*

प्र०–१२६ हमें कहाँ बैठे रहना चाहिए?

उ0– अरे! भाई तू अपने सारे के सारे असंख्य प्रदेश में चैतन्यमूर्ति हो, उसीमें बैठे रहो न। उठकर कहाँ जाते हो? *बोल नं. 115*

प्र०–१२७ सुनने से लाभ नहीं होता ऐसा कहने पर भी अभिप्राय में क्या भूल चलती है?

उ0– शास्त्र से ज्ञान नहीं होता ऐसा सुने और बराबर है, ऐसा कहे, परंतु अंदर (अभिप्राय) में तो ऐसा मानता है, कि बाहर से ज्ञान आता है। वाणी से लाभ नहीं ऐसा कहे, लेकिन मान्यता में सुनने से प्रत्यक्ष लाभ होता दिखे (लगे) तो थोड़ा तो सुन लूं, इसमें क्या नुकसान है? अरे! भैया इसमें नुकसान ही होता है, लाभ नहीं। ऊपर से नुकसान कहे



और अंदर में लाभ मानकर प्रवर्ते, यह कैसी (विरोधी) बात! (इसलिए) अज्ञानी उसमें अटक जाते हैं। *बोल नं. 116*

प्र०–१२८ जिसे सुख की जरूरत हो वह कहाँ जाता है?

उ0– जरुरत दिखे तो अंदर में जाये बिना रहे ही नहीं। सुनते है प्रसन्नता आदि होती है लेकिन सुख की जरूरत हो तो अंदर आवे। जरूरत न हो तो वहाँ ही (सुनने में) ठीक माने; लाभ है नुकसान तो नहीं है न (जो मात्र सुनने में लगे उन्हें सुख का अभिप्राय नहीं)। *बोल नं. 117*

प्र०–१२९ निर्विकल्प निर्णय का अवकाश किसे नहीं है?

उ0– विकल्प की भूमिका में भी (जिसको यथार्थ) निर्णय नहीं होता, इसको निर्विकल्प निर्णय (अनुभव) होने का अवकाश ही कहाँ है। *बोल नं. 118*

प्र०–१३० आपको एकांत की लगन कितनी होती है?

उ0– इ...त...नी...लगनी रहती है कि मैं कब एकांत में बैठूँ एकांत में बैठने की लगन रहती है। फिर भी एकांत नहीं मिले तो वैसे ही अंतरमें एकांत बना लेता हूँ। एकांत न मिले तो इसके लिए तड़पता नहीं (आकुलित नहीं होता)। (अंगत) *बोल नं. 119*

प्र०–१३१ शिष्यों की अपेक्षा जैनदर्शन और अन्यदर्शनों में क्या विशेषता है?

उ0– जैनदर्शन ही एक ऐसा है कि जो वीतराग होने से दूसरेको अपने समान बना लेता है, यह इसकी मूल विशेषता है। दूसरे मतवाले शिष्यों को बहुत कुछ दे देवें, किन्तु पूरा तो नहीं देते क्योंकि वे कषाय युक्त होते है। *बोल नं. 120*

प्र०–१३२ द्रव्यलिंगी (तथा विद्वान) इतना स्पष्ट जानकर (भी) क्यों त्रिकाली में अपनापन नहीं करते ?

उ0– उसको सुख की जरुरत नहीं है, क्योंकि उसको एक समय की उघाड़–पर्याय में संतोष है, (उसमें) सुख लगता है; (इसलिए) तो त्रिकाली को क्यों पकड़ें ? *बोल नं. 121*

प्र०–१३३ वस्तुतः तीव्र दुःख कहाँ लगना चाहिए ?

उ0– असल में तो (विकल्प में) तीव्र दुःख लगना चाहिए । जो तीव्र दुःख लगे, तो सच्चे सुख बिना संतोष हो नहीं सकता । ''दुःख की वेदना सुख की शोधे बिना रहती ही नहीं ।'' *बोल नं. 122*

प्र०–१३४ निर्विकल्पता और विकल्पों में ज्ञानीको कैसा अनुभव होता हैं ?

उ0– (स्वयं के परिणाम बताते हुये कहा) निर्विकल्प आनंद की तो बात क्या करें !! (जब) विकल्प के समय में भी सुख और शांति तो बढ़ती ही रहती है फिर भी, निर्विकल्प आनंद तो इससे भी बहुत ऊँचे दर्जे का है; उस आनंद में से छूटने से तो इतना दुःख ही दुःख होता है कि जैसे बर्फ में पड़ा हुआ बर्फ से छूटकर अग्नि में प्रवेश करे तब जैसा दुःख होता है, वैसा निर्विकल्प में से निकलनेपर होता है । (–इसीसे) तो निर्विकल्प में जाने की लगन रहती है । (अंगत) *बोल नं. 123*

प्र०–१३५ सुनने से सुख मिल सकता है क्या ?

उ0– आखिर कितना भी सुन लो, लेकिन सुख तो यहाँ (अंतर) से ही शुरु होता है । यह थोड़ा सुन लूँ.....इसमें क्या नुकसान है ? पीछे अंदर आऊँगा । (यह तो स्वभाव की अरुचि



है) यह बात ठीक नहीं है (ऐसे पीछेवाले सदा पीछे रहेंगे) । *बोल नं. 124*

प्र०–१३६ तो फिर क्या विचार चिंतन से सुख मिलेगा ?

उ0– एक समय की ज्ञानपर्याय में विचार कर–करके भी क्या मिलेगा ? त्रिकाली की ओर जोर देते ही क्षणिक पर्याय की एकता छूटने से सुख मिलेगा ? *बोल नं. 124*

प्र०–१३७ वर्तमानज्ञान वेदन ख्याल में आता है, उसी प्रकार त्रिकाली सत् ख्याल में क्यों नहीं आता ? उघाड़ में तो युक्ति आदि से आता है लेकिन अंदर से ख्याल में क्यों नहीं आता?

उ0– जो उघाड़ में न्याय से ख्याल में आया, तो (वह) ख्यालवाली ज्ञानपर्याय भी तो किसी आधार पर खड़ी है; तब वह आधारवाली वस्तु क्या है ? ऐसा देखकर उस आधारवाली शक्ति में ही थँम जाना–प्रसर जाना, (क्योंकि) वो ही सत् स्वभाव है । *बोल नं. 125*

प्र०–१३८ कौन सी गति अहं करने योग्य है ?

उ0– ये (चार) गतियों की बात तो बहुत स्थूल है । यहाँ तो सिद्धपर्याय से भी अधिक (भिन्न-ध्रुव) में अपनापन (अहं) करने की बात है । *बोल नं. 126*

प्र०–१३९ पर्याय से छूटें कैसे ?

उ0– पर्याय से छूटे हुये ही हैं । त्रिकाली तो पर्याय में आता ही नहीं । लेकिन पर्याय में एकता(मान) कर रखी है–वह एकता त्रिकाली में स्थापित करने की बात है । *बोल नं. 127*

प्र०–१४० ज्ञानी की शुद्धि की वृद्धि का कारण क्या है ?

उ0– ज्ञानी को तो त्रिकाली में अपनापन होने से उसे वांचन

श्रवण–पूजादिक में भी अंदर से (शुद्धि की) वृद्धि होती रहती है । *बोल नं. 128*

प्र०–१४१ सच्चे देव शास्त्र गुरु एवं सांसारिक विषयों में फर्क तो है न ?

उ0– देव गुरु आदि निमित्तों का सांसारिक विषय की अपेक्षा से फर्क है; क्योंकि सांसारिक विषय तो उनकी ओर झुकने को कहते है, और देवादि निमित्त स्वयं की ओर के झुकाव का निषेध करके स्वात्मा की ओर झुक जाओ–ऐसा कहते है इसलिए देवादिक निमित्तों में फर्क कहने में आता है ।

लेकिन जो जीव अपनी ओर नहीं झुकता, और देवादिक की ओर ही झुका रहता है, उसने तो सांसारिक विषयों की तरह ही इन्हें भी विषय बना लिया; (दोनों में) तो कोई फर्क रहा नहीं । *बोल नं. 129*

प्र०–१४२ मोक्षार्थी का पहले में पहला कर्तव्य शास्त्र स्वाध्याय हो सकता है क्या ?

उ0– जब मुनिगण अपने लिए अपनी शास्त्रों में रमती हुई बुद्धिको व्यभिचारिणी मानते है, तो नीचेवालों की तो व्यभिचारिणी बुद्धि है ही । इस पर भी (अज्ञानी) जीव यहाँ ऐसा लेते हैं कि–मुनिगण तो अपने लिए बुद्धि व्यभिचारिणी मानें वह तो ठीक है; परंतु अपन तो थोड़ी शक्ति वाले हैं, अपने को तो शास्त्रादिक का अवलम्बन लेना ही चाहिए—ऐसी आड़ लेकर वहाँ संतोष मानकर, अटक जाते हैं । पहले में पहला तो त्रिकाली में प्रसर जाने का है, यही सर्व प्रथम कर्तव्य है । *बोल नं. 130*



प्र०–१४३ द्रव्य और पर्याय दोनों में से किसमें अपनापन हो कि जिससे सुख शांति मिले ?

उ0– एक समय की पर्याय में ही तो वेदन आता है; शक्ति में तो वेदन है नहीं । इसलिये यह वेदन ही प्रसिद्ध होने से उसको ही अज्ञानी 'आत्मा' मान लेता है । वास्तव में तो 'आत्मा' क्षणिक पर्याय में जाता ही नहीं, वैसा का वैसा ही त्रिकाल रहता है,–उसीमें अपनापन हुये बिना सुख शांति हो नहीं सकती । *बोल नं. 131*

प्र०–१४४ पू. गुरुदेवश्री द्वारा प्रदत्त तत्त्वज्ञान कब तक टिकेगा ?

उ0– गुरुदेवश्री के उपदेश में इतना खुलासा है कि इस नींव से धर्म पंचमकाल तक टिकेगा, ऐसा दिखता है । *बोल नं. 132*

प्र०–१४५ कहाँ बैठने से पर्याय का कार्य भिन्न दिखे ? एवं आकुलता मिटे ?

उ0– परिणाम में बैठकर वस्तु (त्रिकाली ध्रुव) को देखने से वस्तु भिन्न दिखती है । इसलिए परिणाम से भिन्न होने के लिए वस्तु में बैठकर देखना है, तभी वस्तु में अपनापन होने से पर्याय का कार्य भिन्न दिखने लगेगा; और भिन्नता दिखने से पर्याय का नाश होते हुये भी, अपनापन तो त्रिकाली में रहने से पर्याय के नाश होने पर भी आकुलता नहीं होगी और इधर (ध्रुव) में बैठने से सुख शांति बढ़ेगी ।

*बोल नं. 133*

प्र०–१४७ कहाँ दुःख लगने पर सुख मिलता ही है ?

उ0– विकल्प में इतना (तीव्र) दुःख ही दुःख लगे तभी सुख की ओर जाता है तो सुख मिलता है । असल में तीव्र दुःख (विकल्प) का लगे तो सुख मिलता ही है । *बोल नं. 134*

प्र०–१४८ आपको पू. गुरुदेवश्री के किस बोल को पढ़कर आनंद हुआ था ?

उ0– मुझे तो 'ये षट्आवश्यक नहीं, लेकिन एक ही (अंतर्मुख होना) आवश्यक है; वह पढकर इतना आनंद हुआ था कि वो मुझे स्पष्ट याद है। (अंगत) *बोल नं. 135*

प्र०–१४९ पू. गुरुदेवश्री द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वभाव की स्पष्टता की तुलना आप किससे करेंगे ?

उ0– पू. गुरुदेवश्रीने वस्तुस्वभाव इतना स्पष्ट कर दिया है, वह तो पका पकाया हलवा है अपन को तो सीधा खाना है, अन्यथा हमारी तो शास्त्रों में से निकालने की इतनी शक्ति नहीं है। *बोल नं. 136*

प्र०–१५० ज्ञानपर्याय की स्वतंत्रता जानने से क्या लाभ है ?

उ0– एक समय की ज्ञानपर्याय स्वतंत्र है, (उसमें) पूर्व पर्याय भी कारण नहीं उसमें तीन काल के पदार्थों को जानने की ताकत है—ऐसा सुनकर मुझे तो ऐसी चोट लगी कि तबसे मेरा पढ़ना कम हो गया।.....चलो न! पर्याय का स्वभाव ही जानने का है.....तो सहज जानने में आ जायेगा; आकुलता क्यों करे!.......यहाँ (अंतर में) सुख पियो न। न्याय आदि नक्की करने में आकुलता होती है......अपने को तो सुख चाहिए। *बोल नं. 137*

प्र०–१५१ आगम ज्ञान होने पर भी क्या भूल रह जाती है ?

उ0– बात असल में यह है कि सब की सब धारणा तो (अज्ञानी भी) सच्ची कर लेता है, परंतु पर्याय में बैठकर द्रव्य को देखता (देखना चाहता) है, तो द्रव्य जुदा का जुदा पड़ा रहता है। पर्याय में बैठकर द्रव्य को नहीं देखना है, किन्तु द्रव्य



में बैठकर द्रव्य को देखना है, तो द्रव्य में अपनापन प्रसर जाता है, पर्याय में बैठे रहने से तो द्रव्य दूर ही पड़ा रहता है। *बोल नं. 138*

प्र०–१५२ क्या सिंहगर्जना भी निर्भय बना सकती है ?

उ0– (हाँ) गुरुदेवश्री की सिंहगर्जन ऐसी है कि दूसरे को निर्भय बना देती है। वहीं जंगल के सिंह की गर्जना तो दूसरों को भयाकुल बनाती है दोनों में बहुत फर्क है। *बोल नं. 139*

प्र०–१५३ पढ़ना सुनना जानकारी यह अनुभव में सहायक हैं क्या ?

उ0– थोड़ा यह तो कर लूँ.......यह तो जान लूँ.......सुन तो लूँ यह सब अटकने का रास्ता है। (अपने) असंख्य प्रदेशों में प्रसरकर पूरे का पूरा व्यापक होकर, तन्मय रहो न। सुख शांति बढ़ती जायेगी विकल्पादि टूटते जायेंगे। *बोल नं. 140*

प्र०–१५४ सुख की शोध का प्रयोगात्मक उदाहरण क्या है ?

उ0– (जैसे) भूख-प्यास लगे तो उसको बुझाये बिना चैन नहीं पड़ती। इसीप्रकार जिसे विकल्पों में दुःख ही दुःख लगे तो सुख शोध ही लेवे, उसके बिना चैन ही न पड़े; ऐसा ही स्वभाव है। *बोल नं. 141*

प्र०–१५५ विकल्प में दुःख ही दुःख लगे ऐसा जो कहा तो वह तो नास्तिपक्ष में गया ?

उ0– नास्ति भी (अस्ति-सत्तारूप) द्रव्य की अपेक्षा से है; शेष तो उस (पर्याय) अंश में (तत् समय की योग्यता से) दुःख निकलकर सुख प्रगट होता है और (जिसे विकल्प में) ऐसा दुःख लगे तभी तो द्रव्य की ओर आयेगा। *बोल नं. 142*

प्र०–१५६ त्रिकाली में अहं प्रसरने में कारण ज्ञान है या दृष्टि ?

उ0– मुख्यतौर से तो दृष्टि ही कारण है, फिर भी ज्ञान को भी (कारण) कहते हैं दोनों साथ में ही हैं जो दृष्टि प्रसर जाती है तो ज्ञान भी (कारण) हो जाता है (कहा जाता है) ।

*बोल नं. 143*

प्र०–१५७ दृष्टि तो जानती नहीं, ज्ञान ही जानता है ।

उ0– इस अपेक्षा से ज्ञान को ही कारण कहते हैं परंतु यथार्थ में तो ऐसे ग्यारहअंग वाले को ज्ञान तो कहा जाता है (परंतु उसे) दृष्टि नहीं होती, इसलिए तो यथार्थ में दृष्टि को ही कारण कहते हैं । *बोल नं. 143*

प्र०–१५८ निर्विकल्पता हेतु अवलम्बन का विषय क्या, एवं आत्म चिंतन अटकाव है या साधन ?

उ0– निर्विकल्प ध्यान के पहले अनेक प्रकार का चिंतन घण्टो तक चले फिर भी वह निर्विकल्पता का कारण नहीं, वह तो अटकाव है । 'निर्विकल्पता तो अंदर (त्रिकाली) के उग्र अवलम्बन से होती है ।' विचार रूप ध्यान तो रुकावट है......होता ही है......आ जाता है लेकिन वह अवलम्बन नहीं है । अवलम्बन (मैं पना)तो अंदरका लिया हुआ है उसमें ही उग्रता होने पर निर्विकल्पता होती है ।

यदि अटकाव रूप विचारादि को कारण माना जाय तब विचार से छूट कर अंदर नहीं आ सकते (उन्हें) अटकाव मानने पर ही अंदर जा सकते हैं । मंदशक्ति वश पर्याय में अनेक तरह का विचार चलता है, उसमें उल्लास भी होता है, किन्तु ऐसा चिंतन आदि कारण नहीं बल्कि अटकाव ही है । *बोल नं. 144*



प्र०–१५९ परिणाम अंतर में जमते नहीं बाहर में क्यों दौड़ते हैं ?

उ0– बछड़े को बाँधें नहीं तो बाहर चरने लगता है, यदि खूँटे में बाँध दें तो फिरा तो करे, परंतु वहाँ से बाहर नहीं जा सकता है । —ऐसे ध्रुव में पर्याय को बंध देवें तो पर्याय ध्रुव में फिरा करेगी, बाहर नहीं जायेगी । फिरना तो उसका स्वभाव है, लेकिन ध्रुव खूँटे में ही फिरेगी, और सुख मिलता रहेगा । *बोल नं. 145*

प्र०–१६० सच्चे ज्ञान का स्वरूप क्या एवं ज्ञानी को किसकी प्रमुखता होती है ?

उ0– खरेखर विकल्प से जो जानते हैं सो सच्चा जानना ही नहीं है अंदर में अभेदता से जो सहज जानना होता है वही सच्चा ज्ञान है । परसत्तावलम्बी ज्ञानको तो हेय कहा है न । अपने को तो सुख पीने की अधिकता रहती है, जानने की नहीं, शिवभूति मुनि विशेष जानते नहीं थे फिर भी अंदर में सुख पीते पीते उनको केवलज्ञान हो गया । *बोल नं. 146*

प्र०–१६१ मोक्षमार्ग में व्यवहार से जो साधन कहे उन्हें ही बाधक मानना आवश्यक क्यों है ?

उ0– देव, शास्त्र, गुरु, श्रवण, विचार, वांचन, मनन, उघाड़ और एक समय की पूर्व उत्तर पर्याय जो जो साधनरूप कहने में आते हैं वह सब (निश्चयसे) बाधकरूप हैं । ऐसा नहीं मानें तब तक तो त्रिकाली में आ नहीं सकते । ऊपर ऊपर से बाधक रूप कहें और अंदर में साधनरूप मानते रहें, तो वहाँ ही झुकाव रहा करेगा, त्रिकाली में नहीं आ सकेगा ।

*बोल नं. 147*

प्र०–१६२ सुनने का विकल्प उठे तो क्या करना चाहिए ?

उ0– पहले तो यह बात नक्की कर लो कि सुनने से ज्ञान नहीं होता। सामान्य से ही ज्ञान होगा। फिर भी सुनने का विकल्प उठे तो उसमें खेद होना चाहिए। 'मैं' वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ, वर्तमान से ही 'मुझे' कुछ करना नहीं है। (क्योंकि) परिणाम में पुरुषार्थ सहज होता है। करूँ–करूँ.....यह तो आकुलता है, बोझा है। *बोल नं. 148*

प्र०–१६३ निर्मल परिणाम को भी किस अपेक्षा से व्यवहार कहा ?

उ0– यहाँ तो परिणाम मात्र को व्यवहार कहते हैं, मोक्ष और मोक्षमार्ग सब व्यवहार है। 'मैं' तो अक्रिय ध्रुवतत्त्व ही हूँ। *बोल नं. 149*

प्र०–१६४ अज्ञानी ने एकांत दुःख को सुख क्यों मान लिया है ?

उ0– अपना सुख देखा नहीं इसलिए किसके साथ मिलान करे कि–यह देवगुरु आश्रित वृत्ति भी दुःख है; इसलिए (अज्ञानीने) एकांत दुःख को सुख मान लिया है। *बोल नं. 150*

प्र०–१६५ वस्तु स्वरूप समझने को अपेक्षा तो लगाना चाहिए न ?

उ0– वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा ही है, तो फिर अपेक्षा लगाकर ढीला (करना) थोड़े ही हो सकता है। *बोल नं. 151*

प्र०–१६६ शरीर और राग से भिन्न भासने का अस्तिरूप उपाय क्या ?

उ0– अपने (त्रिकाली ध्रुव) द्रव्य में एकत्व किए बिना, राग और शरीर से भिन्नता नहीं हो सकती; भले ही भिन्न हैं.....भिन्न है, ऐसा कहें। लेकिन अपने द्रव्य में एकत्व होते ही सहज भिन्नता (भाषित) हो जाती है; विकल्प उठाना नहीं पड़ता; सहज ही भिन्नता (भाषित होती) रहती है। *बोल नं. 152*



प्र०–१६७ अधिकगुणी का बहुमान तो करना चाहिए ?

उ0– अभिप्राय तो दूसरे का बहुमान करने का होवे ही नहीं; और खिंचाव के कारण (तीव्ररागवश) बहुमान आ जाये तो उसे दीनता माननी चाहिए उसका भी खेद होना चाहिए। (दूसरों से अपना बहुमान कराने का अभिप्राय तो महा मिथ्यात्व है) *बोल नं. 153*

प्र०–१६८ ज्ञानियों को पराधीनतारूप मचक कैसी लगती है ?

उ0– देव-गुरु के प्रति जो मचक (विनय) होती है वह भी नपुंसकता है और अभिप्राय में (पर की) मचक होवे तो वह अनंती नपुंसकता है। *बोल नं. 154*

प्र०–१६९ मुनियों का अथवा ज्ञानियों का प्रथम कर्तव्य क्या है ?

उ0– (शास्त्र में) मुनि के लिए ऐसा कहा है कि : अन्य मुनि बीमार हो तो वैयावृत्ति करना–वह तो (जिन्हें) विकल्प होवे तो ऐसा होवे, उसकी बात है। 'अपने में एकाग्र हों' प्रथम तो यही कर्तव्य है, 'विकल्प कर्तव्य नहीं'। *बोल नं. 155*

प्र०–१७० ज्ञानियों को अधिक पुण्य कैसा दिखता है ?

उ0– अधिक पुण्य वह तो मल का बड़ा ढेर है। *बोल नं. 156*

प्र०–१७१ ज्ञान की सभी पर्यायें उपेक्षणीय है क्या ?

उ0– (द्रव्य अपेक्षा) केवलज्ञान की पर्याय भी जब उपेक्षणीय है तब फिर क्षयोपशम ज्ञान की तो बात ही क्या ? *बोल नं. 157*

प्र०–१७२ वक्ता का अभिप्राय न समझने से क्या हानि हो सकती है ?

उ0– कोई भी कथन समझने के लिए यदि (वक्ता के) अभिप्राय को छोड़कर अर्थ करने जायेगा तो अर्थ गलत ही होगा। (मोक्षमार्गप्रकाशक प्रथम अध्याय) *बोल नं. 158*

प्र०–१७३ आत्महित हेतु क्या कर्तव्य है ?

उ0– शुभराग को कर्तव्य मानने की तो बात ही कहाँ ? मेरा तो कोई (स्वयं ध्रुवरूप रहने के अलावा कुछ) कर्तव्य ही नहीं, ऐसा पहले पक्का होना चाहिए । *बोल नं. 159*

प्र०–१७४ अंतर में दृष्टि तो जमाना है न ?

उ0– पहले विकल्पात्मकता में तो यह निर्णय कर लो कि परिणाम की अपेक्षा से इधर (अंतर में) ही जमने का है; दूसरा कुछ भी करने का नहीं है । —ऐसे विकल्पात्मक निर्णय का भी अवलम्बन नहीं होना चाहिए । एवं 'मैं तो अपरिणामी हूँ, परिणाम मैं जाता ही नहीं ऐसा अभ्यास होने पर दृष्टि (स्वतः) जम जायेगी । *बोल नं. 160*

प्र०–१७५ सच्ची मुक्ति क्या है ?

उ0– इधर (स्वरूप) में दृष्टि जम गई......बस यही मुक्ति है मुक्ति करनी नहीं है । (मुक्त स्वरूप का वेदन ही मुक्ति है) *बोल नं. 161*

प्र०–१७६ मुक्ति मार्ग की तैयारीवाला भी कहाँ अटक सकता है ?

उ0– दूसरी सब जगह से छूटा; परंतु इधर आया तो देव गुरु को चोंटा......यहाँ से जरुर होगा । वह तो वैसा का वैसा ही हुआ सिर्फ नई दुकान चालू की–मात्र निमित्त ही बदला । *बोल नं. 162*

प्र०–१७७ अन्य कथनों के समय त्रिकाली की अधिकता छूट जाती है क्या ?

उ0– चाहे जैसी बात व कितनी ही बार कहने में आवे लेकिन त्रिकाली की अधिकता कभी नहीं छूटनी चाहिए । कथन चाहे जैसा आये परंतु यह बात (त्रिकाल अपरिणामी है) कायम रख



करके ही अन्य सब बाते हैं त्रिकाली की अधिकता (सर्वस्वता)कभी नहीं छूटनी चाहिए । *बोल नं. 163*

प्र०–१७८ जिनेन्द्र देव किसकी ओर देखने का उपदेश देते हैं ?

उ0– देव की ओर देखो तो देव यह कहते हैं कि मैं तुम्हारे सन्मुख नहीं देखता हूँ और तुम भी मेरे सन्मुख मत देखो, अपने सन्मुख देखो । *बोल नं. 164*

प्र०–१७९ क्या श्रावक को षट् आवश्यक उपादेय नहीं है ?

उ0– षट् आवश्यक कहे जाते हैं, परंतु वास्तव में तो ये अनावश्यक हैं (श्रावक की भूमिका में कमजोरी से जो) विकल्प आता है तो वह किस प्रकार का आता है–ऐसा बताने के लिए कहने में आता है । वास्तव में तो उसमें भी खेद और दुःख लगता है; स्वसन्मुख में जमते ही विकल्प की आकुलता भाषती है कि ये आवश्यक आदि भी दुःख भाव हैं यह उपादेय कैसे (हो सकते हैं ) ? *बोल नं. 165*

प्र०–१८० जिनवाणी के कथनों की मर्यादा कब समझ में आती है ?

उ0– शुद्ध जीवास्तिकाय की दृष्टि विना, शास्त्र में जो कथन आते हैं उनकी कितनी हद तक मर्यादा है; वह समझ में नहीं आती, और दृष्टि होने पर ज्ञान में सब बातें सहज ही समझ में आ जाती है । *बोल नं. 166*

प्र०–१८१ प्रयोजन (केवलज्ञान) मोक्ष की सिद्धि ज्ञान से होती है या लीनता से ?

उ0– सर्वार्थसिद्धि के देव 33–33 सागर तक चिंतन-मनन करते है फिर भी केवलज्ञान नहीं होता; और इधर अंतर्मुहूर्त एकाग्रता (लीनता) होने पर केवलज्ञान हो जाता है जानने

(जानकारी) से प्रयोजन सिद्धि नहीं होती, लीनता से सिद्धि होती है। *बोल नं. 167*

प्र०–१८२ मरणसमय अधिकांशत: किस रस की उग्रता हो जाती है?

उ0– जिसकी (जीवनभर) जो रुचि होती है उसको उसी रस की मुख्यता होती है; इसी से मरण समय भी उसी रस की उग्रता हो जाती है। *बोल नं. 168*

प्र०–१८३ शुद्ध एवं अशुद्ध पर्यायों की भिन्नता कैसे पहचानें?

उ0– अशुद्ध पर्याय का मुख बाहर की ओर है; और शुद्ध पर्याय का मुख अपनी ओर है; दोनों के मुख की दिशा विरुद्ध है, इससे वे सहज ही भिन्न दिखते हैं। *बोल नं. 169*

प्र०–१८४ आपकी भूमिका का श्रेयधार कौन, एवं महाआनंद कैसे होवें?

उ0– यहाँ तो (हम सभी की) महाराजसाहब (पू. गुरुदेवश्री) ने भूमिका तैयार कर दी है; बस 'अब तो थोड़ा–सा सुख का बीज (सम्यग्दर्शन) बो देना...जिससे महाआनंद होवे। *बोल नं 170*

प्र०–१८५ उपयोग को ही अंतर में वालने (झुकाने) की बात है न?

उ0– इसमें भी उपयोग में (पर्याय में) अपनापन और अपनी ध्रुव वस्तु में परायापन हो जाता है। (वस्तुतः) उपयोग 'मेरी' ओर आये ऐसा (वस्तुपरक निर्णय) होना चाहिए। *बोल नं. 171*

प्र०–१८६ ज्ञानी के अनुभव की प्रसिद्धि जगत में होना चाहिए?

उ0– फूल बाग में हो या जंगल में, उसको कोई सूँघो या न सूँघो उसकी कीमत तो स्वयं से है; कोई सूँघे तो उसकी कीमत बढ़ नहीं जाती, अथवा नहीं सूँघे तो वह, कुम्हला नहीं जाता–इसी प्रकार कोई अपने को जाने या न जाने उससे अपना मूल्य थोड़े ही है? अपना मूल्य तो अपने से ही है कोई मान सन्मान देवे या न देवे (उस) सब में धूल ही धूल है उसमें कुछ (सार) नहीं है। *बोल नं. 172*

प्र०–१८७ आप पूज्य गुरुदेवश्री की इतनी महिमा क्यों करते हैं?

उ0– पूज्य गुरुदेवश्री अपने लिए तो अनंत तीर्थंकरों से भी अधिक है, क्योंकि अपना कार्य होने में निमित्त हुए–इसलिए। दूसरा उन्होंने यह बलाया कि 'भैया! तुम सिद्ध तो क्या.....सिद्धों से भी अधिक हो' अनंत सिद्ध-पर्यायें जहाँ से सदैव निकलती रहें ऐसे तुम हो–ऐसा उत्कृष्ट वाच्य पू. गुरुदेवश्री ने बताया है। *बोल नं. 173*

प्र०–१८८ पर्याय कैसे निश्चिंत होती है?

उ0– द्रव्य की सलामती देखते......पर्याय भी सलामत (निश्चिंत) हो जाती है। *बोल नं. 174*

प्र०–१८९ ज्ञान तो करना चाहिए न?

उ0– अरे भाई! ज्ञान अपना स्वभाव है कि नहीं? स्वभाव होने से ज्ञान तो होता ही (रहता) है; करना चाहिए–इसमें तो वजन पर्याय पर चला जाता है और अक्रिय सारा पड़ा रह जाता है। मैं वर्तमान में ही अक्रिय हूँ, कुछ करना ही नहीं है; ऐसी दृष्टि होने पर, ज्ञान-क्रिया सहज उत्पन्न होती है, जानने आदि का विकल्प भी आवे परंतु उस पर वजन नहीं जाना चाहिए यह सब गौण रहना चाहिए। *बोल नं. 175*

प्र०–१९० कार्य अपेक्षा हमारी सीमा कहाँ तक एवं ज्ञानी को राग कैसा लगता है?

उ0– अपनी कार्य सीमा परिणाम तक ही है। इसके आगे नहीं

जा सकते; लेकिन जो थोड़ी सी मचक (कमजोरी) से राग होता है, वह तो मुझे 'सहजसुख' के आगे विषतुल्य लगता है। (तो फिर वस्तुतः) लड्डु आदि को (तो) भोग ही नहीं सकते।

*बोल नं. 176*

प्र०–१९१ अधिक धारणा या रटना किस हेतु से होता है?

उ0– कोई तो धारणा कर लेते हैं, कोई धारणा करके रटन करते हैं; लेकिन भाई धारणा करके क्या तेरे को किसी को दिखाना है कि मैं जानकार हूँ। *बोल नं. 177*

प्र०–१९२ जब तक अपने स्वरूप की प्राप्ति न हो तब तक निर्णय के लिए तो धारणा चाहिए न?

उ0– धारणा सहज होती है। ''मैं धारणा कर लूँ'' यह तो बोझा उठाना है। धारणा के ऊपर तो वजन ही नहीं आना चाहिए। धारणा होनी तो चाहिए न—ऐसा वजन नहीं होना चाहिए; सहज हो तो हो। *बोल नं. 177*

प्र०–१९३ चिंतन तो करना चाहिए?

उ0– चिंतन भी भट्‌टी सा लगना चाहिए वह भी दुःखभाव लगे तो वहाँ से हट सकेंगे, नहीं तो वहाँ से क्यों खिसकेंगे? (चिंतन) मार्ग (के बीच) में आता है तो ठीक किन्तु उसको दुःख भाव जानना, उसमें एकत्व नहीं करना। चिंतन भी चिंता है, आकुलता है। चिंतन जहाँ से उठता है उस (त्रिकाली ध्रुव) भूमि में जमे रहो। *बोल नं. 178*

प्र०–१९४ (श्रोता :)—(हमें) साक्षी भाव (से) रहना चाहिए (न)?

उ0– 'अपन' तो साक्षीभाव में भी नहीं आते। 'अपन' तो ऐसी भूमि हैं जहाँ से एक साक्षीभाव तो क्या अनंत साक्षीभाव



उठते रहेंगे। एक समय के साक्षीभाव में 'मैं' पूरा का पूरा आ जाऊँ तो 'मेरा' नाश हो जाये। साक्षीभाव में भी एकत्व नहीं करना है। जहाँ से वह उठता है वो ही भूमि नक्कर (स्थिर–ठोस) स्थल–'मैं' हूं। *बोल नं. 179*

प्र०–१९५ क्या वर्तमान में भी आत्मा प्रत्यक्ष हो सकता है?

उ0– वस्तु (तो) वर्तमान में प्रत्यक्ष स्थित है, वर्तमान में ही विद्यमान है। एक समय की पर्याय के पीछे पूर्ण वस्तु स्थित है लक्ष्य करें उसी क्षण दिख जाती है। *बोल नं. 180*

प्र०–१९६ देव-गुरु-शास्त्र आदि किसकी कद्र करने को कहते हैं?

उ0– देव-गुरु-शास्त्र की इज्जत करते हैं, कीमत करते हैं तो वे ही कहते हैं कि तूं तेरी कद्र कर। *बोल नं. 181*

प्र०–१९७ पर से लाभ की मान्यता टूटने का क्या नियम है?

उ0– स्वयं से ही (ज्ञान और सुख का) लाभ है ऐसा न मानें तो अन्य से (ज्ञान और सुख) लाभ मानना ही पड़े यह नियम है। और अपन से ही लाभ है, ऐसा मानें तो पर से लाभ माना ही नहीं जाता, यह नियम है। *बोल नं. 182*

प्र०–१९८ क्या हो (करें) कि एक क्षण में कार्य हो?

उ0– योग्यता (तत्त्व जिज्ञासा) और पात्रता (तीव्र रुचि) ठीक होवे तो एक ही क्षण में काम हो जाये, ऐसी बात है। *बोल नं. 183*

प्र०–१९९ विकल्पों की भिन्नता विकल्प के बाद भाषित हो या विकल्प के समय?

उ0– पहले विकल्प उठे और बाद में समाधान करें कि 'ये स्वतंत्र है' (यह ठीक नहीं) विकल्प के साथ ही साथ उसी क्षण उससे भिन्नता होनी चाहिए (भिन्नता लगना चाहिए)। *बोल नं. 184*

प्र०–२०० धारणा के बिना अनुभव हो सकता है क्या ?

उ0– धारणा नहीं होवे और अनुभव हों जाये, यह सवाल ही यहाँ नहीं है ।। यहाँ तो कहते हैं कि धारणा होने पर भी अनुभव नहीं होता। धारणा में 'मैं चैतन्यमूर्ति' हूँ ऐसा टांक दो और इसी स्थलपर जमे रहो तब अनुभव होता है। *बोल नं. 185*

प्र०–२०१ फलप्रदान की अपेक्षा आत्मभूमि एवं जड़भूमि (पृथ्वी) में क्या अंतर है ?

उ0– मैं ऐसी भूमि हूँ जहाँ से क्षण क्षण में नया–नया फल उत्पन्न होता ही रहता है। जैसे भूमि में ऋतु–ऋतु के अनुसार अनेक फल उत्पन्न होते रहते हैं, वैसे 'मैं' ऐसी भूमि हूँ जहाँ से (नया-नया) सुख का फल उत्पन्न होता ही रहता है। 'मैं' अमृतरस से भरा हुआ हूँ। मैं तो ऐसी भूमि हूँ जिसे फल के लिए जल की भी जरूरत नहीं रहती क्यों कि 'मैं' स्वयं ही सुख रूप हूँ; दूसरे पदार्थों (के सहयोग) की अपेक्षा ही नहीं। *बोल नं. 186*

प्र०–२०२ जम जाना भी तो पर्याय ही है न ?

उ0– अरे भाई ! आखिर कार्य तो सब परिणाम में ही आयेगा। परिणाम से घबराओ मत, लेकिन परिणाम पर खड़े भी मत रहो। कार्य तो परिणाम में ही आता है। अपरिणामी में जम गया (स्थिर हो गया) तो कार्य तो परिणाम में ही आयेगा और वेदन भी पर्याय का ही होगा। 'अपरिणामी' 'परिणाम' दो अंश मिलकर (प्रमाण का विषय) पूरी वस्तु है। *बोल नं. 187*

प्र०–२०३ कौनसी मूल बात हमेशा ध्यान रखें ?

उ0– अपन तो अपने ही सुख धाम में बैठे रहें, जमे रहें, बस यही एक बात कायम (ध्यान) रख करके, दूसरी दूसरी सभी



बातों को (हेय ज्ञेय उपादेयरूप) खतिया लो। *बोल नं. 188*

प्र०–२०४ क्या क्षयोपशम के विकास होने से जीव वहाँ अटक सकता है ?

उ0– (अज्ञानी जीव को) ज्ञान का थोड़ा क्षयोपशम होने और थोड़ा विकास भी होता जाये तो वह उसमें ही रुक जाता है; मैं थोड़ा समझदार तो हूँ और पहले की अपेक्षा शांति भी तो बढ़ रही है, इस तरह से आगे बढ़ तो रहा हूँ—ऐसे संतोष मान कर (वहाँ) अटक जाता है। *बोल नं. 189*

प्र०–२०५ सिद्ध बनना हो तो क्या करना ?

उ0– यहाँ (अंतर्मुख) बैठते ही......बस ! इधर अपने असंख्यात प्रदेश में दृष्टि लगाते ही यहीं से सीधा सिद्ध लोक में जाओगे। *बोल नं. 190*

प्र०–२०६ मुक्ति हेतु दृष्टि कैसी होना चाहिए ?

उ0– वर्तमान में ही कृत्य कृत्य हूँ ऐसी दृष्टि अपनी वस्तु में हुई, तो करूँ करूँ–ऐसी कर्तृत्व बुद्धि छूट गयी......बस यही मुक्ति है। *बोल नं. 191*

प्र०–२०७ द्वादशांग का मूल सार क्या है ?

उ0– अपने सुखधाम में सदा जमे रहना.....बस यही बात बारह अंग का एकमात्र सार है। *बोल नं. 192*

प्र०–२०८ शास्त्रों का अभिप्राय कब ज्ञात होता है ?

उ0– दृष्टि खुले बिना शास्त्र का अर्थ भी यथार्थरूप से खतिया नहीं सकते। खतियाने में इधर (ज्ञायक) की मुख्यता कभी गौण नहीं होना चाहिए ? इधर की मुख्यता कायम रखकर ही सब कथन खतियाना चाहिए ! *बोल नं. 193*

प्र०–२०९ ज्ञानी के विकल्पों की स्थिति कैसी होती है ?

उ0– ज्ञानी को भी क्षणिक विकल्प उठते है, लेकिन पूर्व की माफक (तरह) अनंत जोर नहीं है। विकल्प उठते हैं, किन्तु (अंतरका जोर होनेसे) पछाड़ खाकर खत्म हो जाते हैं। *बोल नं. 194*

प्र०–२१० ज्ञानी को भौतिक सुख भी कैसा लगता है ?

उ0– (परिणति में) सहज सुख का अनुभव (विकल्पके) साथ–साथ वर्तता ही है, इसलिए ज्ञानी, हर्ष भाव (भौतिक सुख) को भी प्रत्यक्ष दुःख रूप जानते हैं। परंतु जिन्हें सहजसुख प्रगट नहीं हुआ वे किसके साथ मिलानकर हर्ष भाव को दुःखरूप मानेंगे ? *बोल नं. 195*

प्र०–२११ श्रोता :–आपकी बातों में आनंद की मस्ती ही दिखती है ?

उ0– जो आनंद में मस्त हैं, उनकी मस्ती में आनंद की ही बात आती है। *बोल नं. 196*

प्र०–२१२ 'शुद्धबुद्ध चैतन्यघन' श्रीमद्‌जी के इस वाक्य के बारे में आप क्या कहना चाहते है ?

उ0– ''शुद्धबुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुख धाम''......कैसी सुंदर बात श्रीमद्‌जी ने कही है, एक पंक्ति में सब बात आ गई बस भाई तूं इतना ही विचार कर। *बोल नं. 197*

प्र०–२१३ मुक्तिमार्ग में सहजता कैसे होती है ?

उ0– परिणाम का कार्य परिणाम करेगा, तुम उसकी दरकार (परवाह / चिंता) छोड़ दो, तुम तो अपने नित्यघर में ही बैठे रहो। अपने (नित्य) घर में बैठे तो सब सहज ही सहज (होता) है परिणाम का चश्मा लगाया हुआ हो तो (स्वयं) परिणामरूप ही भासता है, अपरिणामी नहीं भासता। (अपरिणामी में बैठते ही मुक्ति अवश्य होती है।) *बोल नं. 198*



प्र०–२१४ उदाहरण से समझाने की कृपा करें कि मैं विकल्पों से भी चलायमान नहीं होता।

उ0– मैं किसी भी भाव या विकल्प में खिसकता नहीं, तणीजता (खिंचजाता) ही नहीं, वैसा का वैसा और वहीं का वहीं हर समय रहता हूँ विकल्प के साथ साथ परिणामों के साथ साथ खिसकता ही नहीं हूँ। (जैसे) क्या दर्पण का दल क्षणिक आकार में खिसकता है (आता है) ? (वह तो) वैसा का वैसा ही रहता है। इसी प्रकार मैं भी सदा वैसा का ही वैसा रहता हूँ। मैं (विकल्पोंसे) अधिक (भिन्न) हूँ यही स्वयं का महात्म्य भाव है। *बोल नं. 199*

प्र०–२१५ त्रिकाली की शक्ति अधिक या एक समय के परिणाम की ?

उ0– कहाँ एक समय का भाव......और कहाँ त्रिकाली सामर्थ्य त्रिकाली सामर्थ्य के पास (सामने) एक समय के भाव की क्या शक्ति (कीमत) ? *बोल नं. 200*

प्र०–२१६ करूँ करूँ का विकल्प कैसे शांत हो ?

उ0– यह बात (मैं अपरिणामी हूँ) समझमें आने पर करूँ करूँ का बोझा तो हल्का हो जाए; परंतु इस त्रिकाली अपरिणामी का अनुभव होना–यही खास बात है; यह अनुभव करो (इससे करुं करुं का विकल्प शांत होगा)। *बोल नं. 201*

प्र०–२१७ आपकी अमृतवाणी सुनने पर भी क्या भूल रह जाती है ?

उ0– (चर्चा सुनने वालों के प्रति) यहाँ वाले सभी की लगनी तो अच्छी हो गयी है; लेकिन यहाँ की मुख्य बात कि 'हमारा लक्ष्य छोड़ो' (इनसे) यह बात छोड़ी नहीं जाती (वे कहते) तुम इतनी अच्छी बात बताते हो तो तुम्हारा लक्ष्य कैसे छोड़ें

तुम्हारी सन्मुखता कैसे छोड़ें? लेकिन असल में तो 'अपनी सन्मुखता बिना' यह बात समझमें नहीं आती। *बोल नं. 202*

प्र०–२१८ यदि द्रव्य किसी पर्याय में आये तो क्या हानि है?

उ0– अरे भाई! तू एक समय की पर्याय में आ नहीं जाता है। तूं तो अनंत पर्यायों का पिण्ड है यदि तूँ एक पर्याय में आ गया तो अन्य सभी पर्यायें विधवा हो जायेगीं। *बोल नं. 203*

प्र०–२१९ अपरिणामी और परिणाम दोनों का ज्ञान (अनुभव) किसे होता है?

उ0– अज्ञानी को अकेले परिणाम का ही वेदन होता है, परिणाम के साथ ही समूचा अपरिणामी पड़ा है–(उसे) उसका वेदन नहीं होता। यदि अपरिणामी में दृष्टि जमाकर, उसमें तादात्म्य होकर प्रसरकर–अपनापन होते ही उसी क्षण में 'अपरिणामी' और 'परिणाम; दोनों का एक साथ अनुभव होता है। अकेले परिणाम का वेदन मिथ्यादृष्टि को ही होता है। ज्ञानी को एक साथ दोनों का अनुभव (ज्ञान) रहता है।

*बोल नं. 204*

प्र०–२२० कैसी दृष्टि बनायें कि सब यथार्थ भासे?

उ0– 'मैं निष्क्रिय हूँ' यह चश्मा (दृष्टि) तो सदा ही लगाये रहना चाहिए। दूसरा चश्मा (पर्याय की जानकारी) लगाते समय भी, यह चश्मा तो लगाये ही रहना चाहिए; इसके बिना तो कुछ भी दिखाई नहीं देगा (चश्मा का अर्थ दृष्टिकोण हैं)। *बोल नं. 205*

प्र०–२२१ अपनी अचलता कितनी शक्तिशाली है?

उ0– मैं ऐसा अपरिणामी ध्रुव पदार्थ हूँ कि तीनों लोको के सभी पदार्थ इकट्ठे होकर भी मुझे हिला (अन्य द्रव्यरूप) डुला (पर्यायरूप) नहीं (कर) सकते। *बोल नं. 206*

प्र०–२२२ क्या बाधक (अशुद्ध) पर्याय से हानि एवं साधक (शुद्ध) पर्याय से लाभ है?

उ0– साधक–बाधक—ये सब तो पर्याय का ज्ञान कराने के लिए हैं। सबलाई (अपरिणामी) का चश्मा लगाये बिना नवलाई का भी (यथार्थ) ज्ञान नहीं होता है। साधकपना बाधकपना तो पर्याय की बात है। हमें तो साधक–बाधकपने की भी दरकार नहीं है। क्योंकि बाधकपना (अशुद्ध परिणाम) मुझे नुकशान नहीं पहुंचा सकता और साधकपना (शुद्ध परिणाम) लाभ नहीं कर सकता; तो फिर इनका विचार (चिंता) क्यों?

*बोल नं. 207*

प्र०–२२३ वैराग्य का क्या स्वरूप है?

उ0– अपने में ऐसे लीन हो जाना कि उसके रस से परिणति अन्यत्र जाये ही नहीं; उसी को वैराग्य कहते हैं।

*बोल नं. 208*

प्र०–२२४ स्वसन्मुख होने पर क्या क्या होता है?

उ0– यहाँ अपनी ओर आते ही कर्म की खड़खड़ाहट खत्म हो जाती है, कर्म धूलि उड़ने लगती है, पर्याय का बाँकापन टेड़ापन भी छूट जाता है, सुख शांति बढ़ती जाती है।

*बोल नं. 209*

प्र०–२२५ क्या ज्ञानियों के कथनों की अपेक्षाये जानना आवश्यक है?

उ0– अपेक्षा ज्ञान बराबर होना चाहिए, नहीं तो खतियाने में फेर हो जाता है। किस अपेक्षासे, किस बात को कितनी मर्यादा तक कहा है, उसका ख्याल होना जरूरी है। *बोल नं. 210*

प्र०–२२६ कौन निश्चयाभासी नहीं है?

उ0– निश्चयाभास होने का भय छोड़ देना चाहिए; निश्चयाभासी

तो तब कहें कि जब पर्याय में स्वभाविक सुख प्रगट न हो। परंतु जिसको सुख प्रगट हुआ है वह निश्चयाभासी नहीं है।

*बोल नं. 211*

प्र०–२२७ निवृत्ति के भाव आये बिना भी अंतर में जाया जा सकता है?

उ0– पर्याय को जहाँ जाना है वह (ज्ञायक–ध्रुव) तो निवृत्ति प्रवृत्ति दोनों से रहित है, फिर भी वहाँ जाने वाले को निवृत्ति का ही विकल्प बीच में आता है, प्रवृत्ति से खिसकने का ही भाव आता है यह नियम है। नियम होने पर भी उस पर वजन नहीं है ऐसा ही भाव बीच में आ जाता है। *बोल नं. 212*

प्र०–२२८ ज्ञानी की परसंबंध की काल मर्यादा कितनी?

उ0– तुम पन्द्रह साल का संबंध कहते हो लेकिन हम को तो वर्तमान विकल्प जितना एक ही क्षण का संबंध है......यह विकल्प छूटा....कि.....फिर खलास।

चक्रवर्ती (सम्यग्दृष्टि) को छियानवे हजार रानियाँ और वैभव आदि होने पर भी वर्तमान जिस पदार्थ की ओर लक्ष्य जाता है उसी का वह भोक्ता कहलाता है; परंतु अभिप्राय में तो उस पदार्थ का भोक्ता......उसी क्षण खत्म हो गया।

*बोल नं. 213*

प्र०–२२९ 'आत्मधर्म' में निश्चयसे एक ही आवश्यक है पढ़कर आपको कैसा लगा था?

उ0– 'आत्मधर्म' जब मिला उसमें 'एक ही आवश्यक है' ऐसा पढ़ते ही चोट लगी,–अरे! यह आठ द्रव्य से पूजन करना (आदि) छः आवश्यक......इन सब में बोझा लगता है; और इस एक निश्चय आवश्यक (त्रिकाली के अहं) में तो बोझा घट जाता है। (अंगत) *बोल नं. 214*

प्र०–२३० सुख हेतु कितना एकांत चाहिए?

उ0– (इकलया डैम देखकर) यह स्थान यह बतला रहा है कि यदि तुम्हें सुख चाहिए तो, तुम अपने साथियों से भी दूर हो जाओ। *बोल नं. 215*

प्र०–२३१ पर के अवलम्बन का अभिप्राय कैसे छूटे?

उ0– मैं निरालम्बी पदार्थ हूँ–ऐसा निर्णय आये बिना अभिप्राय में (से पर का) अवलम्बन नहीं छूटता। *बोल नं. 216*

प्र०–२३२ क्या श्रद्धा का कार्य श्रद्धा पर ही छोड़ देना चाहिये?

उ0– यथार्थ श्रद्धा तो हुई नहीं, और श्रद्धा अन्यत्र (पर पदार्थ में) भटकती हुई अपनापन (अहम्पना) करती रहे और फिर भी कहें कि श्रद्धा का कार्य श्रद्धा पर छोड़ता हूँ,–ऐसा तो हो ही नहीं सकता। पहले श्रद्धा अपने त्रिकाली अस्तित्व में अभेद हो जाये, उसके बाद तो श्रद्धा का कार्य श्रद्धा पर ही है (वह अपना काम स्वयं करती ही है)। *बोल नं. 217*

प्र०–२३३ झटपट मुक्ति हेतु क्या करें?

उ0– झटपट मुक्ति चाहिए, तो बस यहाँ (अपरिणामी में) ही बिराजमान हो जाओ। *बोल नं. 218*

प्र०–२३४ क्या मुक्ति हेतु कुछ भी नहीं करना?

उ0– (हाँ) ज्ञान करने की जरूरत नहीं; मंदकषाय करने की जरूरत नहीं; निर्विकल्पता करने की जरूरत नहीं, केवलज्ञान करने की जरूरत नहीं; सभी सहज होते हैं, करने का बोझा ही नहीं रखना है। अपरिणामी पर आए तो सब सहज ही होता है। 'ज्ञाता दृष्टा रहूँ' यह भी नहीं

इधर (अपरिणामी आत्मा में) आया तो ज्ञाताद्रष्टापना सहज रहता है 'रहूँ' ऐसा नहीं। *बोल नं. 219*

प्र०–२३५ ज्ञानियों को शुभरूप हर्ष भाव भी दुःखरूप लगता है क्या ?

उ0– इन्द्र (जन्म कल्याणक में) नृत्य करके बाहर में लौकिक अपेक्षा से खुशी मना (दिख) रहे हों तो भी, उनके अंदर में तो सहज सुख चलता है उसमें, वह (भक्ति आदि का) हर्षभाव भी (अभिप्राय में) सहज ही दुःख रूप लगता है; और यह सहजसुख, उस (हर्ष–) भाव का सहज निषेध करता है, बाहर में तो इन्द्र हर्षभाव में खुशी मनाते (दिखते) हैं। *बोल नं. 220*

प्र०–२३६ (हमें आत्मा में) स्थिरता क्यों नहीं होती ?

उ0– क्षणिक (अस्थिर) परिणाम में अपनापन है और स्थिर तत्त्वको पकड़ा नहीं है, तब स्थिरता कहाँ से आये ? मैं अपरिणामी सदैव स्थिर ही हूँ—ऐसे त्रिकाली–स्थिर तत्त्व में अपनापन आते ही परिणाम में स्थिरता सहज ही आ जायेगी, स्थिरता बढ़ेगी और पूर्णता भी हो जायेगी। पहले 'मैं त्रिकाली स्थिर तत्त्व हूँ' ऐसी दृष्टि होनी चाहिए।

*बोल नं. 221*

प्र०–२३७ क्या देव शास्त्र गुरु के लक्ष्य में भी नुकसान है ?

उ0—जितना भी देव शास्त्र गुरु की ओर लक्ष्य जाता है उतना नुकसान ही है, लाभ नहीं, यह बात पक्की हो जानी चाहिए।

*बोल नं. 222*

प्र०–२३८ उपयोग को स्वयं की ओर ढालाने का ही एक मात्र कार्य करने का है न ?

उ0– पर्याय की अपेक्षा से तो ऐसा ही कहा जायेगा। क्योंकि उपयोग दूसरी ओर है 'तो इधर लाओ'–ऐसा कहने में



आता है। असल में तो 'मैं खुद ही उपयोग स्वरूप हूँ' उपयोग कहीं गया ही नहीं—ऐसी दृष्टि होने पर उपयोग स्व सन्मुख आता ही है। *बोल नं. 223*

प्र०–२३९ सुनना और सुनानेका भाव क्या नुकसान का धंधा है ?

उ0– सुनने के भाव में सुननेवाले को और सुनाने के भाव में सुनानेवाले को नुकसान है। (बहिर्लक्षी भाव होने से) दोनों को नुकसान का ही धंधा है। अपनी–अपनी योग्यतानुसार दोनों को नुकसान है। *बोल नं. 224*

प्र०–२४० ज्ञानी कहाँ जाने को जोर देकर कहते हैं ?

उ0– सारी दुनियाँ को छोड़कर इधर (सुनने) आया तो इधर थपाट लगाकर (झिटककर) कहते हैं कि अरे भाई तूं तेरी (ध्रुव की) ओर जा। बोल नं. 225

प्र०–२४१ परसंबंधी विकल्प की अपेक्षा स्व संबंधी विकल्प तो अच्छा है न ?

उ0– आत्म संबंधी विकल्प हो या पर संबंधी विकल्प हो विकल्प तो विकल्प ही है। (कोई विकल्प अच्छा नहीं क्योंकि उसमें 'मैं' नहीं)

*बोल नं. 226*

प्र०–२४२ वस्तु पकड़ने में नहीं आती तो कहाँ अटकाव हो जाता है क्या महिमा नहीं आती है ?

उ0– एक समय के परिणाम में अपनापन रहता है–बस ! यही भूल है। महिमा तो आती है किन्तु ऊपर ऊपर से। यदि वास्तविक महिमा आ जाये तब तो छोड़े ही नहीं। वस्तु का आश्रय (आधार) पकड़ना चाहिए, उसे नहीं पकड़ता है।

*बोल नं. 227*

प्र०–२४३ अंतर स्वरूप की प्राप्ति का सच्चा प्रयास क्या ?

उ0– पर्याय मात्र की गौणता करो। अनुभव हुआ नहीं हुआ यह मत देखो। त्रिकाली वस्तु ही मैं हूँ। पर्यायमात्र को गौणकर, इधर का प्रयास करो। अभिप्राय में एकदफा तो (पर और पर्याय) सबसे छूट जाना है। *बोल नं. 228*

प्र०–२४४ उदाहरण से समझायें कि पर्याय का अवलम्बन छोड़ने पर ध्रुव मिलता है ?

उ0– जैसे भूगड़ी को पकड़े हुए शुक (तोता) को ऐसा लगता है कि मैं उलटा हूँ' यदि सुलटा होता तो फौरन उड़ जाता ऐसे (इस प्रकार) अज्ञानी को ऐसा लगता है कि 'मैं विकारी हूँ' इसलिए आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकूँ? अरे भाई! सुलटे उल्टे की बात ही नहीं है, परिणाम से छूटा तो ध्रुव पर ही आयेगा। भूगड़ी को शुक छोड़ता....तो उड़ ही जाता क्योंकि उड़ना उसका स्वभाव है।–ऐसे परिणाम से खिसके तो त्रिकाली दल में ही आयेगा।(पर्याय का यही स्वभाव) *बोल नं. 229*

प्र०–२४५ कहाँ दृष्टि देने से शेष सभी कार्य सहज ही हो जाते है ?

उ0– ध्रुवतत्त्व पर पांव (दृष्टि) रखो तो पर्याय में सब कार्य सहज ही होगा। *बोल नं. 230*

प्र०–२४६ ज्ञानियों को साधर्मी प्रति कैसी करुणा होती है ?

उ0– आचार्यभगवंत तो निरंतर अमृतरस का ही पान करते हैं अमृत रस में ही मग्न रहते थे। जैसे अच्छा भोजन करते समय अपने कुटुम्बीजनों की याद आती है, वैसे आचार्य देव को करुणा आती है कि भाई! तुम्हारे पास भी आनंद का दरिया पड़ा है तुम भी उसको पिओ.....पिओ....। *बोल नं. 231*



प्र०–२४७ वस्तु चिंतन (कल्पना) मात्र से उपलब्ध हो सकती है क्या ?

उ0– वस्तु साक्षात् मौजूद पड़ी है, मात्र कल्पना नहीं करना लेकिन उस रूप हो जाना–तन्मय होकर असंख्य प्रदेश में व्याप्त हो जाना। जब वस्तु साक्षात है तो फिर मात्र कल्पना क्यों करना? उस रूप परिणम जाना। *बोल नं. 232*

प्र०–२४८ अंतरंग एवं बहिरंग गुरु का क्या स्वरूप है ?

उ0– अपने त्रिकाली ध्रुव गुरु को गुरु बनाकर जो शुद्ध पर्याय प्रगटी; तो बाहर में उस बाच्य के बतानेवाले पर भी गुरु का आरोप किया जाता है। *बोल नं. 233*

प्र०–२४९ क्या पुरुषार्थ करना भी आकुलता है ?

उ0– ''पुरुषार्थ की खान ही मैं हूँ'' तो फिर एक समय के पुरुषार्थ को करने की आकुलता क्यों? परिणाम में फेरफार करना मुझ चैतन्यखान का स्वभाव नहीं है। *बोल नं. 234*

प्र०–२५० नित्यरूप अथवा अनित्यरूप किस रूप माने कि अपने को आनंद मिले ?

उ0– अपनी अनंत परिणति को 'नित्य' रहकर (आनंद) भोगते रहो, खण्ड खण्ड (अनित्य) होकर भोगने में (मानने में) तो अपना नाश होता है (दुःख मिलता है)। *बोल नं. 235*

प्र०–२५१ मैं कैसा हूँ, दुःख कहाँ लगना चाहिए ?

उ0– मैं निरावलम्बी तत्त्व हूँ–इसकी तो पूरी मुख्यता होनी चाहिए, और दीनता का (पर से कुछ मिलेगा एवं पर्याय जितना मानने का) पूरा पूरा दुःख मालूम होना चाहिए। *बोल नं. 236*

प्र०–२५२ क्या मोक्ष भी स्वतः हो जाता है ?

उ0– यहाँ (त्रिकाली ध्रुव) में अपनापन आते ही मोक्ष अपने आप

हो जाता है। दृष्टि यहाँ अभेद हुई तो इसे मुक्ति (हुई) समझो। *बोल नं. 237*

प्र०–२५३ बर्हिमुख परिणाम न होने का क्या उपाय है?

उ0– अपने स्वक्षेत्र में बैठ गये तो परिणाम जायेंगे कहाँ, परिणाम का जोर पंगु हो जायेगा। बर्हिमुखता में तो परिणाम पर के साथ चला जाता है। दृष्टि यहाँ जमी तो परिणाम में ज्यादा दूर जाने की शक्ति ही नहीं रहती। *बोल नं. 238*

प्र०–२५४ सच्ची रुचि की पहचान क्या?

उ0– यथार्थ रुचि हो तो काल लगे ही नहीं, दिन-रात खाते-पीते-सोते उसके ही पीछे पड़ें। बोल नं. २३९

प्र०–२५५ पुरुषार्थ की भी गौणता कब होती है?

उ0– अक्रिय (ध्रुव की) दृष्टि में तो सहज पुरुषार्थ (शुद्ध परिणति) की भी गौणता है, क्योंकि वह भी क्रिया है। अक्रिय दृष्टि में क्रिया मात्र की गौणता है, (तब फिर) कृत्रिम पुरुषार्थ (सविकल्प भेदज्ञान) की तो बात ही क्या? *बोल नं. 240*

प्र०–२५६ किस हेतु को रखकर जिनवाणी सुनी जाये?

उ0– सुनने के काल में भी ''मैं निरावलम्बी तत्त्व हूँ'' यहाँ से शुरु करना चाहिए, फिर (भी) सुनने का भाव आयेगा, किन्तु उसकी मुख्यता नहीं होगी। *बोल नं. 241*

प्र०–२५७ अनुभव हेतु मात्र शुभाशुभ परिणामों को ही तो हटाना है न?

उ0– परिणामों को हटा नहीं सकते, परिणामों में से एकत्व हटा सकते हैं। (एकत्व ही अध्यवसान है) *बोल नं. 242*

प्र०–२५८ बर्हिमुख उपयोग में कैसा लगना चाहिये?

उ0– उपयोग अपने से बाहर निकले.....तो यम का दूत ही आया ऐसा देखो। बाहर में फिर चाहे भगवान ही (क्यों) न हों, उसमें अपना मरण हो रहा है। बाहर के पदार्थों से तो अपना संबंध ही नहीं, तो फिर उपयोग को बाहर में लम्बाना क्यों? *बोल नं. 243*



प्र०–२५९ किस प्रकार के भावों में मुक्ति होती है?

उ0– ''कुछ करना नहीं है'' हर समय ऐसा भाव रहता इससे अधिक मुक्ति कौन सी है। *बोल नं. 244*

प्र०–२६० अपने को कैसा मानने में पराधीनता आती है?

उ0– दूसरे (संयोग, शरीर, मन, वाणी) से अपनी प्रसिद्धि होवे, इससे तो अपने को पराधीनता आयी, खुद तो लंगड़ा ही रहा। *बोल नं. 245*

प्र०–२६१ स्वयं सत् होने पर भी किस अभिप्राय में असत् माना जाता है?

उ0– बाहर के सत् से–देव शास्त्र गुरु से–तुझे लाभ होने वाला नहीं है; तेरे सत् से ही तुझे लाभ है। बाहर के सत् से लाभ होवे तो क्या तूँ स्वयं सत् नहीं है। *बोल नं. 246*

प्र०–२६२ सार (हितरूप) असार (अहितरूप) को संक्षेप में समझायें?

उ0– वस्तु और वस्तु में एकाग्रता–तणाव (खिंचाव) बस ये ही दो बातें (सार) हैं। एकाग्रता होते होते मुक्ति हो जाती है। (इससे जुदा) सुनना, तत्त्वचर्चा करना, ये सब विषय–सेवन है (असार है)। अपने विषय को छोड़कर इन्हें विषय बनाते हैं तो अपना विषय पड़ा रह जाता है। *बोल नं. 247*

प्र०–२६३ आत्महित हेतु संक्षिप्त बात क्या?

उ0– सिर्फ बैठक ही बदलना है। परिणाम पर बैठे हो तो वहाँ

से उठकर अपरिणामी पर बैठ जाओ...बस इतनी सी बात है। *बोल नं. 248*

प्र०–२६४ कमजोरी एवं विपरीतता की क्या पहचान है ?

उ0– अकचास (ध्रुव) स्वभाव की, दृष्टि हुई हो (तो फिर आने वाला राग) को कचास (कमजोरी) कहा जावे, नहीं तो एकांत पर सन्मुखता में कचास कहाँ (विपरीतता) है। *बोल नं. 249*

प्र०–२६५ आत्मप्राप्ति हेतु रुचि का स्वरूप समझाने की कृपा करें ?

उ0– रुचिमें खरेखर अपनी जरुरत लगे तब अपनी वस्तुकी प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। चौबीसों घण्टे चिंतन में–बेचिंतन में एक यही (घोलन) चलता रहे। जिस विषय की रुचि होती है, वह विषय सैकड़ो बाह्य कार्य करते हुए भी चलता ही रहता है। बाहर का उपयोग तो ऊपरी ऊपरी तौर से चलता है, उसमें जागृति नहीं रहती; जिस विषय की रुचि है उसी में जागृति रहती है। सैकड़ो कार्य करते रहने पर भी सभी की गौणता ही रहा करती है; मात्र रुचि का विषय ही सदा मुख्य रहता है। *बोल नं. 250*

प्र०–२६६ अनुभव के पूर्व विकल्पात्मक दृढ़ता का स्वरूप क्या है ?

उ0– विकल्पात्मक विचार में भी ''शरीराकार चैतन्यमूर्ति को टांक दो 'मैं' तो यही हूँ। सुख–दुःख की जो कोई पर्याय हो, उसकी उपेक्षा रखो–'मैं तो यही हूँ' विचार चले उसकी भी गौणता रखो 'मैं' तो वैसा का वैसा ही चैतन्यमूर्ति हूँ— बस यही दृढ़ता करते रहो। *बोल नं. 250*

प्र०–२६७ स्वरूप प्राप्ति की मुख्यता में क्या-क्या गौण होना चाहिए ?

उ0– सुनना शास्त्र पढ़ना आदि सभी की गौणता होना चाहिए; एकांत का ज्यादा अभ्यास रहना चाहिए। *बोल नं. 250*



प्र०–२६८ अनुभव न हुआ तो निगोद चला जाऊँगा इसका भय तो रखना ?

उ0– यदि (सम्यक्त्व) प्राप्त नहीं हुआ तो जीव निगोद में चला जायेगा ऐसे निगोद के भय से, अपना कार्य करना चाहे तो वो यथार्थ नहीं। परंतु निगोद की अवस्था हो या सिद्ध की, 'मेरा' तो कुछ भी बिगाड़ सुधार नहीं, ऐसी 'मैं अचलित वस्तु हूँ' ऐसी श्रद्धा जम जानी चाहिए। पर्याय कैसी भी हो उसकी उपेक्षा ही रहनी चाहिए। *बोल नं. 250*

प्र०–२६९ स्वानुभव हेतु निरंतर कैसा प्रयास करें ?

उ0– परके साथ में तो कुछ संबंध ही नहीं; ऐसा तो पक्ष होना चाहिए; बाद में वस्तु और परिणाम इन दो के विचार में ही सब समय लगा देना है। चौबीसों घण्टे बस यही (विचार) चलना चाहिए। प्रवृत्तिभाव को गौण करके इस एक ही की मुख्यता चलनी चाहिए—यही प्रयास निरंतर चलना चाहिए। *बोल नं. 250*

प्र०–२७० जन्म-मरण से छूटने को कैसा अनुभव करें ?

उ0– आत्मा ज्ञान और सुख से भरा हुआ है फिर अपने को चाहिए भी क्या? लोग जन्म-मरण से छूटना चाहते हैं लेकिन 'मैं तो जन्म-मरण से रहित ध्रुव हूँ;' उत्पाद व्यय के साथ भी 'मैं' खिसकता नहीं (ऐसा अनुभव करने पर जन्म-मरण तो बहुत दूर रह गया)। *बोल नं. 251*

प्र०–२७१ अपने परिणामों को भी तटस्थता से देखने की क्या विधि है ?

उ0– इधर से (निजाश्रय से) जो ज्ञान खिलता है, वो सारे नाटक को (तटस्थ होकर) देखता है–कैसे कैसे भाव उठते हैं ? कैसे (कैसे) ठगाते हैं ? कैसे (परमें) खिंचाव होता है ? यह सब

नाटक (स्वरूप ग्रहण के बाद ज्ञान) देखता रहता है।

*बोल नं. 252*

प्र०–२७२ (श्रोता :) पूज्य गुरुदेव द्वारा हुई तत्त्व की स्पष्टता कब तक टिकेगी / चलेगी ?

उ०– (पू. गुरुदेव के) यहाँ से इतना इतना खुलासा बाहर आ चुका है कि पंचम आरा (काल) के अंत तक (यह बात) चलेगी।

*बोल नं. 253*

प्र०–२७३ क्या विचार करते करते वस्तु की प्राप्ति हो जायेगी ?

उ०– विचार (मात्र) करने से वस्तु का पता नहीं लगता वस्तु तो प्रत्यक्ष मौजूद है, बस! इसी में प्रसर कर बैठ जाना, विराजमान हो जाना। *बोल नं. 254*

प्र०–२७४ पर्याय में सहज पुरुषार्थ और सुख कैसे होता है ?

उ०– ''मैं ही पुरुषार्थ की खान हूँ न' दृष्टि ने पुरुषार्थ (और सुख) की खान का कब्जा ले लिया, फिर पर्याय में पुरुषार्थ सुख आदि सहज होता ही है। *बोल नं. 255*

प्र०–२७५ परिणाम में एकत्व छोड़ देना, वही आपका कहना है ?

उ०– बस......यही कहना है। परिणामों से एकत्व छोड़ दो लेकिन यह एकत्व छूटे कैसे? नित्यस्वभाव में एकत्व करे तब। निश्चय नित्यस्वभाव में दृष्टि जमाकर, परिणाम मात्र से एकत्व उठा लेना। *बोल नं. 256*

प्र०–२७६ वृत्ति (करने, भोगने, जानने की) उठती रहती है वह कैसे रुके ?

उ०– एक समय की वृत्ति को उसी में रहने दो। 'मैं' त्रिकाली तो एक समय की वृत्ति में जाता ही नहीं। त्रिकाली में अपनापन होते ही वृत्ति भी खिची चली आयेगी। *बोल नं. 257*

प्र०–२७७ सर्वप्रथम अभिप्राय कैसा बने ?

उ०– सबसे प्रथम अभिप्राय में निरावलम्बीपना आ जाना चाहिए। बीच में जरा सा अवलम्बन (पर्याय का) आ जाये, लेकिन उसी समय अभिप्राय में निषेध हो। *बोल नं. 258*

प्र०–२७८ ज्ञानी राग को कैसे नाश करते ?

उ०– (ज्ञानी के) ज्ञान की राग की तरफ पीठ होती है, मुख नहीं होता। इधर (त्रिकाली में) मुख होने से राग स्वयं छूट जायेगा। राग को कम करूँ, छोडूँ—ऐसा तूफान नहीं होता। राग को कम नहीं करना है और लम्बाना भी नहीं है। 'स्वभाव का बल बढ़ते–बढ़ते राग कम होता जाता है। ज्ञान का परिणमन अर्थात् स्थिरता–बस। यही एक राग के नाश का उपाय है। राग को कम करना यह कोई उपाय नहीं है। *बोल नं. 259*

प्र०–२७९ ज्ञानी शरीर आदि क्रिया को किस जैसा देखते है ?

उ०– शरीर शरीर में और 'मैं' मेरे में हूँ। (उसका परिणमन) स्वप्न की माफक हो रहा है, मैं तो यह सब स्वप्न देख रहा हूँ।

*बोल नं. 260*

प्र०–२८० सीताजी साधर्मी थीं और पत्नी भी थीं तो भी रामचन्द्रजी ने लौकिकजनों की मुख्यता करके वात्सल्य अनुराग को भी गौण कर दिया—ऐसा कैसे ?

उ०—देखो! इससे यह सिद्ध हुआ कि धर्मी को वात्सल्य राग ही मुख्य होता है, ऐसा नहीं। कभी कैसा राग आ जाये, कभी कैसा राग आ जाये। *बोल नं. 261*

प्र०–२८१ आप शुभराग को क्यों नहीं बढाते ?

उ0– वात्सल्य, प्रभावना आदि के राग को हम तो रोग मानते हैं, फिर उसको बढ़ाना क्या ? *बोल नं. 262*

प्र०–२८२ द्रव्यलिंग धारण करने पर एवं विद्वान बनने पर भी क्या भूल रह जाती है ?

उ0– द्रव्यलिंगी (एवं विद्वानों) को वस्तु का महात्म्य तो आया लेकिन वस्तु परोक्ष ही रही प्रत्यक्ष नहीं हुई। *बोल नं. 263*

प्र०–२८३ क्या दृष्टिदोष चारित्र दोष से बड़ा है ?

उ0– आचार्य ने दृष्टि के दोष को इतना बड़ा बताया है कि भाई ! सर्प का काटा तो एक ही दफा मरता है, लेकिन मिथ्यात्व का काटा हुआ अनंतभव में रुलता है। इसलिए इस मिथ्यात्व के महान पाप से बचने के लिए, शादी तक कर लेने का कह दिया, क्योंकि वह तो मात्र राग (चारित्र दोष) का ही कारण है। *बोल नं. 264*

प्र०–२८४ पर्याय द्रव्यसे भिन्न है या अभिन्न अथवा भिन्नाभिन्न ?

उ0– पर्याय द्रव्य से सर्वथा भिन्न ही है; प्रमाण में अभिन्नता भी कहने में आती है; लेकिन प्रमाण निश्चय को झूठा करके नहीं कहता है; 'निश्चय से तो पर्याय सर्वथा भिन्न है।' प्रदेश एक होने से प्रमाण उनको अभिन्न कहता है; प्रमाण अभिन्न ही कहता ऐसा नहीं है भिन्न–अभिन्न दोनों कहता है। ''परंतु एकांत भिन्न है; ऐसा जोर दिए बिना पर्याय में से दृष्टि उठेगी नहीं।'' (कहा है) ''अनेकांतपण सम्यक् एकांत अेवा निज पदकी प्राप्ति सिवाय अन्य हेतुये उपकारी नथी.'' यह सत्य है। *बोल नं. 265*



प्र०–२८५ पर्याय के बिगाड़/सुधार में द्रव्य पर कुछ असर होता है क्या ?

उ0– 'मैं' इतना मजबूत स्थल हूँ कि एक समय की पर्याय में अनंतसुख हो, ज्ञान हो या अनंती विपरीत पर्यायें हों मेरे में उन पर्यायों से कुछ भी हलनचलन नहीं होती सुधार बिगाड़ नहीं होता–ऐसी दृढ़ मजबूत चीज मैं हूँ। *बोल नं. 266*

प्र०–२८६ परिणाम कैसे सुधरें ?

उ0– नित्य अपरिणामी ध्रुव–धाम में दृष्टि विराजमान करने से परिणाम सुधरने लगेंगे। *बोल नं. 267*

प्र०–२८७ पात्र जीव को किसका अभ्यास करना चाहिए ?

उ0– शुरू से ही दो चार घण्टे (एकांत का) अभ्यास करना चाहिए, आखिर तो सदा एकांत (में) ही रहना है। *बोल नं. 268*

प्र०–२८८ दृष्टि मुक्ति हेतु परिणाम का कैसा निर्णय करें ?

उ0– 'परिणाम मेरे से सर्वथा भिन्न है' (ऐसा लगने पर) दृष्टि परिणाम से छूटती है। जैसे मृत्यु का बोझा ताव (बुखार) से छूटता है। *बोल नं 269*

प्र०–२८९ बाह्य जिम्मेदारी आपको कैसी लगती है ?

उ0– किसी भी (बाह्य) कार्य की जवाबदारी लेना सो तो बड़ा पहाड़ उठाने (जैसा बोझा) लगता है।(अंगत) *बोल नं. 270*

प्र०–२९० पू. गुरुदेव के परिचय में आने वाले क्या अधिकांशतः गुरुदेव के साथ ही मोक्ष जायेंगे क्या ?

उ0– यह जो महाराजसाहब का योग मिला है–वह परम योग है क्योंकि (यह) परमस्वभाव की प्राप्ति का कारण है। महाराजसाहब जगत गुरु हैं, जो अकेले सिद्धलोक में नहीं जाते, बहुत से जीवों को साथ लेकर जायेंगे। यहाँ के

अधिकांश लोग (उनके पहले और उनके साथ मोक्ष में) चलने वाले हैं। *बोल नं. 271*

प्र०–२९१ तत्त्वों का विकल्पात्मक ज्ञान होने के बाद क्या करना?

उ0– यह (तत्त्व की) सब बात विकल्पात्मक रूप जान लेने से शांति नहीं मानना अभेद–दृष्टि प्रगट करना। *बोल नं. 272*

प्र०–२९२ पात्र जीव का एक ही ध्येय क्या होना चाहिए?

उ0– असल में आत्मा कैसे प्राप्त हो यही एक 'ध्येय होना चाहिए; दूसरी दूसरी अन्य बातों से क्या प्रयोजन? *बोल नं. 273*

प्र०–२९३ सुख के स्त्रोत के स्त्रोत कब बहने लगेंगे?

उ0– इधर (अपरिणामी में) दृष्टि आते ही सुख के स्त्रोत के स्त्रोत बहने लगेंगे। *बोल नं. 274*

प्र०–२९४ किस रस की रुचि का क्या स्वरूप है?

उ0– जिसको जिस रस की रुचि होती है उस रस की जिस निमित्त से कृत कारित अनुमोदनारूप पुष्टि मिलती है उन्हीं के संग का भाव होता है। देव शास्त्र गुरु शांत रस के निमित्त हैं इसलिए उनके संग का भाव आता है। *बोल नं. 275*

प्र०–२९५ अज्ञानी निश्चय पर जोर क्यों नहीं दे पाता है?

उ0– (उसे) निश्चयाभास हो जाने का डर लगता है; इससे निश्चय पर जोर नहीं दे सकता और व्यवहार में तणीज (खींच) जाता है, राग में आदरभाव रह जाता है, (क्योंकि) निश्चयाभास के निषेध के लिए जब ऐसा कहने में आता है कि सुनने का भाव तो गणधर को भी आता है अध्ययन का भाव तो मुनियों को भी आता है इत्यादि कथन आते हैं तो अज्ञानी को व्यवहार के पक्ष की पुष्टि हो जाती है। *बोल नं. 276*



प्र०–२९६ कैसा विचारें कि सप्त भय मिटें?

उ0– 'मैं' ऐसा पदार्थ हूँ कि मेरे में भय का प्रवेश ही नहीं हो सकता है (तो) फिर भय किस विषय का? *बोल नं. 277*

प्र०–२९७ ज्ञानीचक्रवर्ती की दृष्टि कहाँ रहती है?

उ0– चक्रवर्ती को लोग (यों) देखें कि यह छह खण्ड वाला है। (परंतु) उसकी दृष्टि तो अखण्ड पर है। *बोल नं. 278*

प्र०–२९८ अभी जो ध्यान ध्येय विषयक भूल चलती उसे समझाने की कृपा करें?

उ0– (इस विषय की) जरासी भूल वह पूरी भूल है। पर्याय ध्यान करने वाली है और 'मैं' ध्यान की विषयभूत वस्तु हूँ; पर्याय मेरा ध्यान करती है 'मैं' ध्यान करने वाला नहीं हूँ। मैं ध्यान करूँ इस बात में और मैं ध्यान करने वाला नहीं, मैं तो ध्यान का विषय हूँ—इस बात में जरासा फेर लगता है परंतु है दिनरात जितना बड़ा फेर। *बोल नं. 279*

प्र०–२९९ सोऽहं....सोऽहं....शिवोऽहं....आदि शब्द (ध्यानके समय) क्यों बोलने में आते हैं?

उ0– यह तो सीधा ध्यान जम न सके तब इन शब्दों के द्वारा कषाय थोड़ा और पतला पड़ता है, इसलिए है। *बोल नं. 280*

प्र०–३०० श्रीमद्जी के किस बोल में द्वादशांग का सार दिखता है?

उ0– शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम'' इसमें पर्याप्त (द्वादशांग के साररूप) बात बतला दी है। *बोल नं. 281*

प्र०–३०१ जिनवाणी के व्यवहार कथनों का आशय क्या होता है?

उ0– (जिनवाणी में व्यवहार से) जो बात आती है वह तो परलक्ष्यी

ज्ञान की निर्मलता के लिए, (आती, यदि वह निर्मलता) सहज हो (जाती) हो तो हो। *बोल नं. 281*

प्र०–३०२ चारित्र का पुरुषार्थ अनंत गुणा होने पर भी वह किसकी मुख्यता में गौण हो जाता है ?

उ0– दृष्टि की तुलना में चारित्र का पुरुषार्थ अनंतगुना है, लेकिन उसकी भी मुख्यता नहीं। (क्योंकि) दृष्टि के विषय की मुख्यता में उसकी भी गौणता रहती है। *बोल नं. 282*

प्र०–३०३ किस कारण ज्ञानी बाह्य पदार्थों से उदासीन रहते हैं ?

उ0– बाहर से अपना कोई प्रयोजन ही नहीं तो (अतः) बाह्य पदार्थों से तो सहज ही उदासीनपना रहे ही। *बोल नं. 283*

प्र०–३०४ क्या ज्ञानी विकल्पों की निंदा-गर्हा नहीं करते ?

उ0– दृष्टि अपने को प्रभु ही देखती है कमजोरी से विकल्प आया तो अपनी निंदा गर्हा भी होती है 'मैं पामर हूँ' ऐसा भी विकल्प आता है; परंतु वह तो क्षण पूरता ही विकल्प है, आ गया...तो...आ गया (आये ही यह नियम नहीं)। *बोल नं. 284*

प्र०–३०५ क्या जिनवाणी सुनते सुनते प्रयोजनसिद्ध हो सकता है ?

उ0– जैसे जिसको सुई (इन्जेक्शन) लेने की आदत हो गयी तो उसको सुई लिए बिना चैन नहीं पड़ती वैसे ही जिसको सुनने आदि की आदत हो गई हो उसको उसके बिना चैन नहीं पड़ती। लेकिन (सुनने के भाव का) तीव्र निषेध आये बिना उससे छूट ही नहीं सकते। *बोल नं. 285*

प्र०–३०६ सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा कैसा है ?

उ0– सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा–'ध्रुव, अभेद, एकरूप



शुद्ध, अखण्ड, कूटस्थ अपरिणामी है। *बोल नं. 286*

प्र०–३०७ ज्ञानी को साधर्मी के प्रमोदभाव का काल कितना ?

उ0– दृष्टि में तो 'अपन' प्रभु हैं। बाहर में अन्य को प्रभुता में आगे बढ़ा देखें तो सहज ही प्रमोदभाव आ जाता है, लेकिन ऐसा भाव भी क्षण पूरता ही आता है, ज्यादा लगाव नहीं होता। *बोल नं. 287*

प्र०–३०८ पर्याय का विवेक कैसे होता है ?

उ0– इधर (अपरिणामी में) नहीं आया तो पर्याय का विवेक भी नहीं होता। तब कहना पड़े कि भाई! पर्याय का विवेक रखो; इधर आया तो पर्याय(का) विवेक सहज होता है। *बोल नं. 288*

प्र०–३०९ दृष्टि का विषय क्या ?

उ0– एक समय की पर्याय को छोड़कर जो सामान्य वस्तु रहती है, वही दृष्टि का विषय है। *बोल नं. 289*

प्र०–३१० हमारे जीवनका धन्य पल कब होगा ?

उ0– अनादिकाल से भटकते भटकते जब अपरिणामी में अपनापन हुआ कि 'मैं तो सदा मुक्त ही हूँ'......बस! यही जीवन का धन्य पल है। *बोल नं. 290*

प्र०–३११ रागियों से नहीं वीतरागियों से तो राग करें न ?

उ0– वीतरागियों के साथ राग करना मूर्खता है; वह तो तेरे को जवाब तक नहीं देंगे। *बोल नं. 291*

प्र०–३१२ किसकी और कैसी पिपासा में कार्य जल्दी हो ?

उ0– अपने सहज सुख की पिपासा होना चाहिए; जितनी तीव्र पिपासा.....उतना जल्दी काम होता है। *बोल नं. 292*

प्र०–३१३ पर के साथ हमारा कुछ लेन देन का संबंध है क्या ?

उ0– देव–गुरु से कुछ लेना नहीं है। उनके स्वरूप को देखकर 'मैं' भी उन्हीं की जाति का हूँ—ऐसा जानने में आता है। लेना देना कुछ नहीं है। दूसरों के साथ लेने देने का संबंध ही नहीं है। अशुद्धपर्याय का दूसरों की ओर लक्ष्य जाता (तो) है। किन्तु दूसरों से लेने देने का संबंध नहीं (होता) है। *बोल नं. 293*

प्र०–३१४ मुनिदशा सहज क्रमबद्ध में होती है अथवा भावना भाने से होती है ?

उ0– जो पर्याय जिस काल में होने वाली है तभी होती है। मुनि दशा भी सहज होती है। पहले भावना होती है; लेकिन अभिप्राय (मैं अपरिणामी हूँ उस) की प्रधानता पहले करो; पीछे योग्यता प्रधानी हो जाओगे। जो पर्याय जब होने वाली है तब ही होती है अपन तो जहाँ बैठे है; वहाँ करना-कराना नहीं है अपन तो बंध और मुक्ति दोनों से रहित हैं। *बोल नं. 294*

प्र०–३१५ हर समय किसे मुख्य रखा जाये ?

उ0– दृष्टि के विषय की हर समय मुख्यता रहनी चाहिए। चाहे जितनी बातें आयें लेकिन (दृष्टि के विषय की) गौणता नहीं होना चाहिए। *बोल नं. 295*

प्र०–३१६ समयसारजी की कौनसी गाथा में सम्यग्दर्शन का विषय सरल, स्पष्टरूप से आया है ?

उ0– पूरे समयसारजी की छठ्ठी गाथा में सम्यग्दर्शन का खास विषय आया है। छठ्ठी गाथा में सबसे उत्कृष्ट बात आयी



है मैं प्रमत्त भी नहीं, अप्रमत्त भी नहीं; कौन सी पर्याय बाकी रही ? *बोल नं. 296*

प्र०–३१७ ज्ञानीयों को देव-शास्त्र-गुरु के लक्ष्य से हुये परिणामों में कैसा लगता है ?

उ0– देव-शास्त्र-गुरु की तरफ के लक्ष्य और वलण में भी भट्टी सा दुःख लगना चाहिए। (ज्ञानी का) बाहर में उत्साह दिखता है, लेकिन अंदर में भट्टी सा दुःख लगता है। *बोल नं. 297*

प्र०–३१८ वास्तविक शांति कब होती है ?

उ0– विकल्पात्मक भाव में यह निर्णय आया कि 'कुछ करना ही नहीं है' तो मात्र इतना विकल्पात्मक कर्तृत्व छूटने पर आकुलता उतनी कम हो जाती है, फिर विकल्परहित निर्णय होने पर सर्वथा कर्तृत्व छूटकर वास्तविक शांति होती (ही) है। *बोल नं. 298*

प्र०–३१९ ज्ञानी के राग की आड़ में अज्ञानी अपने राग की पुष्टि कैसे कर लेता है ?

उ0– सुनने आदि के भाव ज्ञानी को, गणधर को भी आते हैं तो अपने को क्यों न आयें ? इस प्रकार (अपने) पराश्रय भाव की (अज्ञानी) पुष्ट करता है। *बोल नं. 299*

प्र०–३२० मृत्यु के समय जीवों को किस विषय की मुख्यता होती है ?

उ0– मृत्यु के समय जीव को अपनी रुचि का ही विषय मुख्य हो जाता है; अन्य सभी चीजों से रुचि हटकर के जिसकी रुचि थी उसी एक चीज की मुख्यता हो जाती है। इस प्रकार जिसको आत्मा की रुचि हो उसको मृत्यु समय

अपना आत्मा ही मुख्य हो जाता है उस समय तो सब कुछ समेट लेना है। दूसरों से कहें कि मुझे सुनाओ, तो उसकी योग्यता भी उस प्रकार की (कमजोर है अंदर की तैयारी नहीं) है तभी ऐसा विकल्प आता है। *बोल नं. 300*

प्र०–३२१ जिनागम की सभी बातें यथार्थ ग्रहण कैसे होतीं है?

उ0– एक बात (दृष्टि का विषय) यथार्थ पकड़ में आने पर सब बातें यथार्थ रूप से ग्रहण होतीं हैं। *बोल नं. 301*

प्र०–३२२ क्या दूसरों को समझाने का भाव उचित है?

उ0– अपने को तो स्वयं समझना; (कि मैं कौन हूँ) दूसरा कितना समझता है, कितना नहीं इससे क्या प्रयोजन? दूसरों में रुकेगा तो अपना काल व्यर्थ चला जायेगा। *बोल नं. 302*

प्र०–३२३ समयसार ७२ गाथा में ज्ञाननय का निषेध क्यों किया है?

उ0– (जो) क्षयोपशम में बैठे हुये हैं द्रव्य ऐसा है....ऐसा है ऐसे द्रव्य की बातें कर रहा है, वह तो दूर बैठ कर द्रव्य की बातें कर रहा है। (यही एकांत ज्ञाननय निषेध्य है) *बोल नं. 303*

प्र०–३२४ जिस समय जैसी योग्यता होगी वह तभी होगा, यह कहने का अधिकारी कौन है?

उ0– जब अंतर्दृष्टि जमे....तब ही योग्यता का यथार्थ ज्ञान होता है, तभी (वह) योग्यता कहने का अधिकारी है। *बोल नं. 304*

प्र०–३२५ उदाहरण से निर्विकल्पदशा को समझाने की कृपा करे?

उ0– बिजली के करंट की माफक अतीन्द्रियसुख प्रदेश प्रदेश में व्यापक होकर प्रसर जाता है। झनझनाहट का काल थोड़ा हो तो भी क्या? *बोल नं. 305*



प्र०–३२६ ज्ञान में गम्भीरता और विवेक कैसे आता है?

उ0– आत्मा तो समुद्र की माफक गम्भीर है अनंत शक्तियाँ अपने में संग्रह करके बैठा है; इसकी दृष्टि होते ही ज्ञान में भी गम्भीरता और विवेक आ जाता है। *बोल नं. 306*

प्र०–३२७ पू. गुरुदेवश्री कहते कि वास्तव में तो मेरा कोई निमित्त भी नहीं यह कहने में उनका आशय क्या है?

उ0– बाहर के संग का निमित्त नैमित्तिक संबंध पर्याय के साथ है मेरे साथ नहीं। (क्योंकि मैं पर्याय से रहित हूँ) *बोल नं. 307*

प्र०–३२८ ज्ञानी को निमित्त के साथ एकत्वबुद्धि क्यों नहीं होती?

उ0– जिसको पर्याय में एकत्वबुद्धि है उसकी बुद्धि तो निमित्त के साथ लम्बाती है; किन्तु ज्ञानी को पर्याय में एकत्वबुद्धि नहीं है, इससे उसकी निमित्त के साथ भी एकत्वबुद्धि नहीं होती है। *बोल नं. 307*

प्र०– ३२९ अनुभूति हेतु बुद्धिपूर्वक क्या करें?

उ0– संसार के हर विषय में प्रयास करते हो तो इधर (अनुभव)का प्रयास भी करो न! इस प्रयास में तो उत्कृष्ट शुभभाव होता है, जो अन्य किसी जगह नहीं होता। यह भी है तो कृत्रिम प्रयास, लेकिन अकृत्रिम प्रयास के पहले यह भी आए बिना नहीं रहता। *बोल नं. 308*

प्र०–३३० प्रयोजन साधने हेतु नित्य-अनित्य में से किस पहलु को मुख्य करना चाहिए?

उ0– नित्य और अनित्य यह दोनों पड़खे (धर्म) एक वस्तु के हैं; अब मतलब प्रयोजन सिद्धि करने का है तो वह तो नित्यपड़खे को मुख्य करने से और अनित्यपडखे को गौण करने से ही सिद्धि होती है। *बोल नं. 309*

प्र०–३३१ स्व में या पर में उपयोग टिकने का कितना कितना काल है ?

उ0– पर्याय पर की ओर तन्मयता करती है(करना चाहती) लेकिन पर के साथ तन्मय हो सकती नहीं; अंतर्मुहूर्त से अधिक पर की ओर (पर्याय) टिक सकती नहीं। (जब कि) परिणाम त्रिकाली के साथ तन्मयता करे तो वहाँ वह तन्मय (त्रिकाली रूपस्व को वेदता) हो जाता है, वह तन्मयता सदाकाल टिकती है।

*बोल नं. 310*

प्र०–३३२ किसकी उग्रतामें कार्य की सिद्ध शीघ्र हो ?

उ0– जितनी धगश (अपरिणामीका जोर) उग्र.....उतनी जल्दी कार्य (सिद्ध) होता है। *बोल नं. 311*

प्र०–३३३ मुनि को वस्त्रादिक नहीं होने से दुःख नहीं होता होगा ?

उ0– मुनिराज को दुःख कैसा ? उनके तो अंतर में आनंद का स्त्रोत बहता है; बिजली के करंट की माफक आनंद चलता है। उनको तो वस्त्र की वृत्ति का उठना ही दुःख है; और जो (२८ मूलगुणरूप भी) शुभवृत्ति उठती है वह भी भयंकर दुःखरूप लगती है। *बोल नं. 312*

प्र०–३३४ आप किससे शून्य और किससे भरपूर हैं ?

उ0– मैं तो विकल्पों से शून्य हूँ और मेरे (गुण-धर्मरूप) भावों से 'मैं' भरपूर हूँ। *बोल नं. 313*

प्र०–३३५ हम सभी को पूज्य गुरुदेवश्री के तत्त्व का रहस्य क्या विरासत में मिला ?

उ0– अध्ययन आदि का काफी रहस्य पूज्य गुरुदेवश्री से अपने को मिला है। क्रमबद्ध कहाँ लिखा है, अपने को क्या दरकार है ? सिद्धांत बैठ गया और अनुभव में आ गया,



फिर क्या काम ? इसप्रकार महाराजसाहब से सब बातें अपने को तैयार मिल गयी हैं। जैसे पिता की कमाई हुई पूंजी वारिसे में (विरासत में) बिना प्रयत्न के (पुत्र को) मिल जाए। *बोल नं. 314*

प्र०–३३६ ज्ञानी को विषयों में आसक्ति नहीं है, इसका मतलब क्या ?

उ0– अन्यमतवाले तो इसको दूसरी तरह से कहते हैं, लेकिन वैसा नहीं है। यथार्थ में तो ज्ञानी को अपने त्रिकाली स्वभाव में ऐसी आसक्ति हो गई है कि अन्य किसी पदार्थ में आसक्ति होती ही नहीं, (वे) स्वभाव में इतने आसक्त है।

*बोल नं. 315*

प्र०–३३७ पहले तो (बाह्य) अवलम्बन लेना चाहिए न ?

उ0– पहले से ही 'मैं परिपूर्ण हूँ, उसको (परका) अवलम्बन कैसा ? ऐसा लेकर (बाह्य) अवलम्बन से नुकशान ही है ऐसा निषेधपूर्वक (फिर भी) थोड़ा अवलम्बन आ जाता है; लेकिन लम्बाने का अभिप्राय नहीं होना चाहिए–(बाह्य) अवलम्बन का पहले से ही निषेधभाव होना चाहिए। *बोल नं. 316*

प्र०–३३८ पात्र जीव को मृत्यु के समय सुनने का भाव आता है या सुनने का भी निषेध आता है ?

उ0– मृत्युसमय (कोई) 'मुझे सुनाओ' ऐसा भाव जब उठता है तब तो स्वयं की तैयारी नहीं है। (जिसे) अंदर में (स्वरूप घोलन) चल रहा है उसको कोई दूसरा सुनाए–ऐसा विकल्प भी नहीं उठता, उसको तो उस समय अधिक बल होवे तो निर्विकल्पता आ जाती है, अगर निर्विकल्पता नहीं आती तो भी स्व (त्रिकाली अपरिणामी) की अधिकता तो छूटती ही नहीं।

*बोल नं. 317*

प्र०–३३९ द्रव्य एवं पर्याय दोनों अपेक्षा हमारा कर्तव्य क्या होना चाहिए ?

उ0– 'मेरी' अपेक्षासे तो 'मैं' कृतकृत्य ही हूँ, कुछ भी कर्तव्य नहीं; मैं तो अनंत वीर्य (पुरुषार्थ) की खान हूँ। फिर भी परिणाम अपेक्षा से 'स्वद्रव्य' में जम जाना यही एक कर्तव्य है। *बोल नं. 318*

प्र०–३४० उपयोग को चोंटाने का उत्तम स्थान कौन सा है ?

उ0– दूसरे सब पदार्थों को तो छोड़ा और देव-शास्त्र-गुरु को चौंटा, अब वहाँ से भी उखाड़कर इधर (ध्रुव में) चौंटो। *बोल नं. 319*

प्र०–३४१ जिनप्रतिमा देखकर कैसी प्रतीति होना चाहिए ?

उ0– मैं चैतन्य प्रतिमा हूँ यह प्रतिमा कुछ नहीं देती, इससे उपकार नहीं हो सकता, (मात्र) कहने में आता है। असल में तो उनकी वीतरागी शांत मुद्रा स्वरूप–देखकर.....अहो! बस मैं (त्रिकाली) ऐसा ही हूँ। (ऐसी प्रतीति होना चाहिए)। *बोल नं. 320*

प्र०–३४२ क्या शांतरस में भी अडिगता होती है ?

उ0– जैसे वीर रस वाले को (लड़ाई के प्रसंग में) शरीर छूट जाने का डर नहीं। वैसे ही शांतरस वाले को पूरा जगत प्रतिकूल हो जाये, शरीर छूट जाये या इसीप्रकार अन्य प्रसंग आये तो भी वह डिगता नहीं। *बोल नं. 321*

प्र०–३४३ शुद्ध पर्याय प्रगट करना हो तो क्या करना चाहिए ?

उ0– मुझे तो शुद्ध पर्याय भी करनी नहीं है, न पुरुषार्थ करना है न ज्ञान करना है, और न ही श्रद्धान करना है–यह सब तो परिणाम का कार्य है और मैं तो अपरिणामी हूँ; परिणाम में कभी जाता भी नहीं तो मैं उसका क्या करूँ परिणाम ही स्वयं पुरुषार्थ आदि रूप होता है। *बोल नं. 322*

प्र०–३४४ सुनने और सुनाने का भाव तो होना चाहिए या नहीं ?

उ0– सुनने वालों को (तो) दीनता है ही, लेकिन दूसरों को सुनाना चाहते हैं वह भी दीनता है। *बोल नं. 323*

प्र०–३४५ स्वानुभव प्रगट करनेका प्रयास भी सहज होता है क्या ?

उ0– अरे भाई! कृत्रिम प्रयास से क्या होगा? उस पर वजन नहीं आना चाहिए। मैं वर्तमान में ही निष्क्रिय चैतन्यतत्त्व हूँ, वहाँ आया तो पर्याय में प्रयास सहज उठता ही है। ''मैं'' तो अनंतपुरुषार्थ की खान हूँ न। एक समय के प्रयास में थोड़े ही आ जाता हूँ। *बोल नं. 324*

प्र०–३४६ क्या मोक्ष का प्रयास भी नहीं करना ?

उ0– वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ फिर मुक्ति का प्रयास करने का भी सवाल नहीं उठता। करना क्या है? क्या परिपूर्ण मैं मुक्ति करना (शेष रही क्या)। *बोल नं. 325*

प्र०–३४७ राग को ज्ञान का ज्ञेय तो बनाना है न ?

उ0– राग को ज्ञान का ज्ञेय बनाने जाना यह दृष्टि (अभिप्राय) ही गलत है। खुद को ज्ञेय बनाया, तो राग उसमें (स्वयं) जणीजता (जानने में आता) ही है; राग को ज्ञेय क्या बनाना? *बोल नं. 326*

प्र०–३४८ स्व–पर की प्रतीति करने का तो शास्त्र में आता है न ?

उ0– अरे! स्व की प्रतीति करो। पर की प्रतीति उसमें (नास्तिरूप) आ जायेगी। अपने खुद की(स्व रूप) प्रतीति करो। *बोल नं. 327*

प्र०–३४९ त्रिकाली का किस प्रकार का पक्ष करना चाहिए ?

उ0– त्रिकाली का पक्ष करो ! ऐसा (अपूर्व) पक्ष करो कि अनंतकाल में कभी हुआ न हो । वर्तमान (पर्याय) का पक्ष छोड़ो । *बोल नं. 328*

प्र०–३५० अनुभव करने को किसका पक्ष करना चाहिए ?

उ0– अनुभव की दरकार (परवाह) छोड़ दो । स्वाद लेना यह कोई ध्येय थोड़े ही है ? ध्येय (त्रिकालीध्रुव) का पक्ष करना चाहिए । *बोल नं. 329*

प्र०–३५१ विकल्पात्मक भावमें भी किसका पक्ष होना चाहिए ?

उ0– अरे भाई ! विकल्पात्मक भाव में तो (मैं त्रिकाल अपरिणामी हूँ) यह पक्ष करो पीछे (बादमें) इधर जम जाओ। *बोल नं. 330*

प्र०–३५२ रुचि का सच्चा स्वरूप क्या है ?

उ0– (स्वरूप की) रुचि ऐसी होनी चाहिए कि उसके बिना एक क्षण भी चेन न पड़े । *बोल नं. 331*

प्र०–३५३ राग कब ज्ञेय है और किस अपेक्षा दुःखरूप है ?

उ0– इधर (अपरिणामी में) आया तो राग ज्ञान में ज्ञेयरूप जानने में आता है; और वेदन में दुःखरूप लगता है । *बोल नं. 332*

प्र०–३५४ राग के नाश का उपाय क्या ?

उ0– राग भी उसी (एक) समय पुरता सत् है, उसको खिसकाने जायेगा......तो तूँ खुद ही खिसक जायेगा; उसको उसी में रहने दो........तुम तुम्हारे में रहो, वह (राग) स्वयं ही (अगले क्षण) चला जायेगा (अर्थात् पारिणामिकभाव हो जायेगा) । *बोल नं. 333*

प्र०–३५५ पू. गुरुदेवश्री को आप किस रूपमें देखते हैं ?

उ0– मैं तो महाराजसाहब को शुद्ध निष्क्रिय चैतन्यबिम्ब ही देखता हूँ । जो भी विकल्प–वाणी–शरीर की क्रियायें हों रहीं हैं उनको महाराज साहब नहीं मानता । *बोल नं. 334*

प्र०–३५६ मोक्ष होने की चिंता कब मिटती है ?

उ0– मोक्ष होवे न होवे–उसकी दरकार (चाह) नहीं, (अतीन्द्रिय) सुख चालू हो गया फिर पर्याय में मोक्ष तो होगा ही । *बोल नं. 335*

प्र०–३५७ क्या दृष्टिवंत का ज्ञान सब जान लेता है ?

उ0– सभी शास्त्रों का–बारह अंगों का सार तो ''मैं'' हूँ शेष सब बातें तो जानने की (ज्ञेय) हैं । 'अपने' को दृष्टि में ले लेने पर जो ज्ञान उघड़ता है वह सब जान लेता है । *बोल नं. 336*

प्र०–३५८ मचक (कमजोरी / मजबूरी) किसे कहते है ?

उ0– (जिसे) विकल्प में तीव्र दुःख लगे और (जो) विकल्प में तणीजता (खिंचाता) नहीं उसे मचक कहते हैं । *बोल नं. 337*

प्र०–३५९ मचक में दुःख न लगे फिर भी वह मचक कही जा सकती है क्या ?

उ0– जिसे मचक में दुःख ही न लगे, उसको तो मचक में ही अमचक है अर्थात् मचक में ही समूचा चला गया है; उसको मचक कहने का भी अधिकार नहीं है । *बोल नं. 337*

प्र०–३६० किस बात को मुख्य रखकर ज्ञानी की शेष अपेक्षायें समझना चाहिए ?

उ0– दृष्टि की बात को मुख्य रखकर सब खतौनी करनी चाहिए ।

इधर (–अंतरमें) दृष्टि होने पर जो ज्ञान हुआ......वह (ज्ञान) वस्तु जैसी है वैसी ही जान लेता है। *बोल नं. 338*

प्र०–३६१ ज्ञान मध्यस्थ कब होता है?

उ0– इस (स्वरूप की) दृष्टि के बिना तो (ज्ञान) किसी बात में अधिक खिंच जाता है या किसी बात को ढीलाकर देता है। परंतु दृष्टि होने पर ज्ञान जिसकी जितनी-जितनी मर्यादा है उसके अनुसार (मध्यस्थ होकर) ही जानता है। *बोल नं. 338*

प्र०–३६२ उपदेश की शैली का स्वरूप कैसा होना चाहिए?

उ0– शास्त्रों में सभी प्रकार की सब पड़खों की बातें न्यायतर्कादि से आतीं हैं। कोई जीव वेदांत से आया हो, कोई (अन्य) कहाँ से आया हो, किसी का कैसा अभिप्राय रहा हो, अतः सब प्रकार से (विपर्यास का) खण्डन हो ऐसी यथार्थ बात आना चाहिए। *बोल नं. 339*

प्र०–३६३ सभी शास्त्रों का तात्पर्य क्या?

उ0– सभी शास्त्रों का मूल तो अनुभूति (निर्विकल्पता वीतरागता) पर ही आना है। (मोक्षपाहुड गाथा-१६) *बोल नं. 340*

प्र०–३६४ सत्य असत्य बात का निर्णय किस आधार से हो सकता है?

उ0– जिसको अनुभूति हुई हो—वह जीव अनुभव के बल से कौन सी बात सत्य है (कौन असत्य है) फौरन जान लेता है। *बोल नं. 341*

प्र०–३६५ स्वयं के रस एवं कमजोरी को कौन सा ज्ञान जान सकता है?

उ0– इधर (अंतर) दृष्टि हुए बिना ज्ञान यथार्थ नहीं होता है, दृष्टि उत्पन्न होने पर जो ज्ञान है वह अपना (पर में) कितना



अटकाव है? अपनी स्वभाव में कितनी जमावट है? कितना रस है? यह सब सहज जान लेता है। *बोल नं. 342*

प्र०–३६६ सुख अथवा ज्ञान में से ज्ञानी किसे चाहता है?

उ0– अपने को तो ज्यादा ज्ञान का लक्ष्य नहीं है। सुख पीने का भाव है। केवलज्ञान पड़ा है (शक्ति में) उसके उघड़ने (प्रगटने) पर ज्ञान तो सब का हो (ही) जायेगा। (अपने को तो सुख से प्रयोजन है) *बोल नं. 343*

प्र०–३६७ आत्मानुभव हुआ उसकी क्या पहचान है?

उ0– सुखका (अतीन्द्रिय आनंद का) अनुभव हुआ.....सो किसी को पूँछना नहीं पड़ता; दूसरे 'ना' कहें तो कहें, अपने को तो प्रत्यक्ष सुख आ रहा है न! (अंगत) *बोल नं. 344*

प्र०–३६८ दृष्टि मोक्ष का क्या स्वरूप एवं पूर्ण मुक्ति कैसे होगी?

उ0– इधर (ध्रुव में) वर्तमान में ही मुक्ति पड़ी है, वह दृष्टि में आ गई तो दृष्टि में तो मुक्ति वर्तमान में ही हो गई और (व्यक्त में) भी आंशिक मुक्ति आयी है और इसमें (ध्रुव में) मुक्ति है, तो मुक्त दशा प्रगट होगी ही। *बोल नं. 345*

प्र०–३६९ ज्ञानी को कोई भी विकल्प कैसा लगता है?

उ0– एक भी विकल्प जो उठता है–वह चाहे चिंतन का ही क्यों न हो (उसमें) ऐसा लगना चाहिए कि मानों 'मैं' छुरों के बीच में ही पड़ा हूँ। विकल्प में दुःख ही दुःख लगे तब ही सुख की ओर ढलना होता है। *बोल नं. 346*

प्र०–३७० शक्ति में भरा सुख कैसे प्रगटे?

उ0– विकल्प में दुःख ही दुःख लगे तो जो शक्ति में भरा पड़ा है सुख (वह) प्रगटे बिना न रहे। *बोल नं. 347*

प्र०–३७१ क्या स्वाध्याय से भी ऊँचा कोई तप है ?

उ0– स्वाध्याय को तप कहा है लेकिन, अरे भाई ! इधर अपनी ओर चैतन्य में जम जाना–यह परमतप है । स्वाध्याय तो विकल्प है, उसे (भी) उपचार से तप कह देते हैं । *बोल नं. 348*

प्र०–३७२ तत्त्व चिंतन के विकल्पवाला आंगन में आया कहा जाये न?

उ0– यह आंगन तो है न ! आंगन तो है न ! ऐसा वजन देकर के जीव अटक जाता है; परंतु आंगन घर थोड़े–ही है ? घर में तो उसका अभाव है । *बोल नं. 349*

प्र०–३७३ क्या सुनने वालों के कारण सुनाना होता है ?

उ0– जैसे व्यापारी माल देता है और उसके पैसे ग्राहक देता है, दोनों का अपना–अपना कारण है, एक दूसरे के लिए नहीं करते हैं । वैसे ही सुनानेवालों (ज्ञानीयों) को अपने कारण से मचक आती है और करुणा से उपदेश का विकल्प भी आता है और सुनने वालों को अपने कारण से सुनने का भाव होता है । *बोल नं. 350*

प्र०–३७४ सुनाने का विकल्प कब गौण हो जाता है ?

उ0– जैसे व्यापारी को अन्यत्र पैसों का बड़ा लाभ होनेवाला हो तो वह ग्राहक के लिए नहीं रुकता है । उसी प्रकार यहाँ भी सुनानेवाले का विकल्प टूट जाये तो वह सुनने वालों के लिए (सुनाने को) रुकता नहीं है । *बोल नं. 350*

प्र०–३७५ क्या मूलबात (दृष्टि के विषय) में भी अपेक्षा लगाई जा सकती है ?

उ0– (जो) मूलबात में अपेक्षा लगाते हैं तो (वह) मुझे खटकता है, (क्योंकि) उसमें जो (वजन) तीखास होती है, वह टूट जाती है । अपेक्षा लगाने से ढीलापन हो जाता है ।

*बोल नं. 351*

प्र०–३७६ अनंतज्ञानियों का एकमत होने से ज्ञानियों को निशंकता आती है क्या ?

उ0– अनंतज्ञानियों का एकमत होने से नहीं परंतु ज्ञानियों को अपना सुख पीने से निशंकता आ जाती है । *बोल नं. 352*

प्र०–३७७ निश्चयाभासी का क्या लक्षण है ?

उ0– खाली निश्चय की बातें करे और अशुभ में रस पड़ा रहे तो वह निश्चयाभासी हो जाता है । परंतु जो निश्चय स्वभाव में जोर देकर पर्याय की गौणता करे, वह निश्चयाभासी कैसे होवें ? *बोल नं. 353*

प्र०–३७८ भक्तिपूजा में आप कम जाते हो; चौबीसों कलाक (घंटे) निर्विकल्पता थोड़े–ही रहती है ।

उ0– अरे ! चौबीसों कलाक निर्विकल्पता नहीं रहती है परंतु उस तरफ ढलने का प्रयास तो हो सकता है न ? क्या इसमें शुभ भाव नहीं है ? इसमें तो ज्यादा (ऊँचा) शुभभाव है, उसकी तो गिनती ही नहीं; और (जगत के लोग तो) शरीरादिक की (शुभभावरूप) क्रिया हो उसको गिनते हो ।

*बोल नं. 354*

प्र०–३७९ क्या मूल स्वभाव में भी अपेक्षा लगाने से ढिलास आ सकती है ?

उ0– जिस अपेक्षा से वस्तु (द्रव्य या पर्याय) का जो स्वभाव है उस अपेक्षा से शत प्रतिशत वैसा ही एकांत स्वभाव है, वह स्वभाव अन्य अपेक्षा लगाने से ढीला नहीं हो सकता ।

*बोल नं. 355*

प्र०–३८० ज्ञानी का भक्ति आदि का तीव्र राग भी सहज कहा जा सकता है ?

**उ0– भक्ति का रागांश कभी तीव्र आ जाता है वह भी सहज ही आ जाता है। अपनी तो सहज प्रकृति है, बलजोरी** (हठ) **अपने से नहीं होती।** (अंगत) *बोल नं. 356*

प्र०–३८१ परिणाम का विवेक किसे और कैसे होने चाहिए ?

**उ0– परिणाम का विवेक तो, जो अनंत सुखी होना चाहते है उनको सहज होना चाहिए।** (परंतु उसमें कर्ताबुद्धि नहीं होना चाहिये)

*बोल नं. 357*

प्र०–३८२ पुरुषार्थ और ज्ञान करने का अभिप्राय तो होना चाहिए कि नहीं ?

**उ0– पुरुषार्थ करूँ, ज्ञान करूँ, यह अभिप्राय भी हटादें 'तूं वर्तमान में ही पुरुषार्थ** (और ज्ञान) **की खान है,** (तेरी) **वर्तमान परिणाम ऊपर की दृष्टि झूठी है।** *बोल नं. 358*

प्र०–३८३ निमित्तों से तो नहीं परंतु क्षयोपशम ज्ञान के विकास से तो लाभ होता होगा ?

**उ0– निमित्त से तो किंचित् मात्र लाभ नहीं; बल्कि उघाड़ज्ञान से भी कुछ लाभ नहीं। उघाड़ज्ञान में तुझे हर्ष** (राग) **आता है तो त्रिकाली स्वभाव की तुझे महत्ता नहीं आयी है।**

*बोल नं. 359*

प्र०–३८४ दृष्टि स्थिरता पर रहती या अस्थिरता पर ?

**उ0– दृष्टि तो अस्थिरता और स्थिरता दोनों को ही नहीं कबूलती है** (वह तो स्थिर तत्त्व में ही अहं करती) **।** *बोल नं. 360*



प्र०–३८५ हमें निश्चय प्रतीति कैसे आयेगी ?

**उ0– अपने त्रिकाली स्वभाव को पकड़े बिना जीव को निश्चय प्रतीति आयेगी ही नहीं।** *बोल नं. 361*

प्र०–३८६ ज्ञानीयों को थकान कहाँ नहीं लगती एवं कहाँ लगती ?

**उ0– सहज पुरुषार्थ में थकान नहीं लगेगी। सोने आदि के भाव में भी दुःख लगेगा, निद्रा में भी थकान लगेगी।**

*बोल नं. 362*

प्र०–३८७ द्रव्य और पर्याय सर्वथा भिन्न और अभिन्न किस अपेक्षा से हैं ?

**उ0– त्रिकालीस्वभाव और परिणामस्वभाव यह दोनों सर्वथा जुदा** (भिन्न) **ही है, लेकिन समूचे** (प्रमाण के) **द्रव्य की अपेक्षा से उनको एक** (अभिन्न) **कहने में आता है** (है नहीं) **।** *बोल नं. 363*

प्र०–३८८ पर्याय की अपेक्षा से मैं किसका कर्त्ता हूँ किसका नहीं ?

**उ0– पर्याय अपेक्षा से मैं शुद्धभाव का कर्त्ता हूँ लेकिन, अशुद्धभाव का ''मैं'' कर्ता नहीं हूँ।** (तब पर की तो बात ही कहाँ रही)

*बोल नं. 364*

प्र०–३८९ परमात्मप्रकाश प्रथम अधिकार की ६८ वीं गाथा में आत्मा का स्वरूप कैसा बतलाया है ?

**उ0– एक समय के परिणाम–बंध, मुक्त से वस्तु शून्य** (रहित) **है; ऐसा परमात्मप्रकाश में कहा है।** *बोल नं. 365*

प्र०–३९० हमें जिनवाणी सुनने का भाव तो आना चाहिये न ?

**उ0– सुनने–करने में थकान आना चाहिए।** *बोल नं. 366*

प्र०–३९१ वह (सुनने का भाव) अमृत नहीं परंतु औषधि तो है न ?

**उ0– औषधि कहने में भी ढीलापन हो जाता है, जहिर ही है।**

श्रीमद्कुंदकुंदाचार्य ने (नियमसार में) तो कहा ही है न कि 'विषकुम्भ है। एक दफा तो जड़मूल में कुल्हाड़ा मार दो।

*बोल नं. 366*

प्र०–३९२ क्या अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव स्वयं को पकड़ने में आता है और वह मुख्य करने योग्य है क्या?

**उ0–** अरे भाई! अनुभव खुद के ख्याल में नहीं आवे ऐसा होता ही नहीं। परंतु वह परिणमन हुआ कि नहीं? ऐसे विचार कर करके क्या उसमें संतोष करना है? अरे! सदा ही निर्विकल्प रहे तो भी उसकी मुख्यता नहीं करनी (चाहिए) है। *बोल नं. 367*

प्र०–३९३ कहाँ दृष्टि देने से परिणाम विकसित होता है?

**उ0–** 'दृष्टि' ऐसी प्रधान चीज है कि स्वभाव में दृष्टि जमते ही (सब) परिणाम खिलने (विकसित होने) लगते हैं। *बोल नं. 368*

प्र०–३९४ पूज्य गुरुदेवश्री के करुणा से निकले हुये न्यायों का किस प्रकार उपयोग करना चाहिए?

**उ0–** (निश्चय से तो) पूज्य गुरुदेवश्री घोलन से पार है; लेकिन उनके घोलन में पर–प्रति जो करुणा है उसमें न्याय आदि निकलते हैं। जैसे पिता का धन पुत्र बिना श्रम के भोगता है, वैसे ही गुरुदेवश्री से मिले हुये न्याय आदि को अपन (तर्क लगाये बिना) बिना श्रम भोगो! (उपयोग करो)।

*बोल नं. 369*

प्र०–३९५ जब यदि परिणाम भी सूक्ष्म है तो आत्मा कैसा होगा?

**उ0–** परिणाम से भी ऊँड़ा(गहरा), सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व जो है सो ''मैं''(ज्ञायक) हूँ। *बोल नं. 370*



प्र०–३९६ आप बिलजी के करंट की तरह आत्मानुभव होना कहते हैं, तो यह उदाहरण पूरा घटित होता है क्या?

**उ0–** बिजली का करंट लगते ही भय लगता है और उससे हटना चाहते हैं। लेकिन त्रिकाली स्वभाव में प्रवेश करते ही आनंदकी ऐसी सनसनाहट होती है कि उस आनंद से एक क्षण मात्र भी हटना नहीं चाहते हैं। *बोल नं. 371*

प्र०–३९७ क्षयोपशम ज्ञानवालों की वाणी भी तो मीठी होती है ना?

**उ0–** (जिसे) ज्ञान के उघाड़ में रस लगता है.....तो तत्त्वरसिक जन कहते कि हमको तेरी बोली में रस नहीं आता, हमें तो तेरी बोली काकपक्षी जैसी (अप्रिय) लगती है।

*बोल नं. 372*

प्र०–३९८ सम्यग्दृष्टि अपने को सिद्ध मानते है या ध्रुव सिद्ध?

**उ0–** सम्यग्दृष्टि जीव अपने को सदा त्रिकाली (ध्रुव) आत्मा हूँ ऐसा ही मानते है। ''मैं ध्रुव सिद्ध हूँ'' जिसमें सिद्धदशा की भी गौणता रहती है; सिद्धदशा का भी प्रतिसमय उत्पाद–व्यय होता है; मैं तो सदा ध्रुव (सिद्ध) हूँ'। *बोल नं. 373*

प्र०–३९९ दृष्टि दूसरों को किस अपेक्षा नापती है?

**उ0–** अपने नाप (अभिप्राय) से दूसरों का नाप करना यही दृष्टि का स्वभाव है। *बोल नं. 374*

प्र०–४०० मुझ त्रिकाली को 'मुक्त हुआ' कहना क्या उचित है?

**उ0–** मैं त्रिकाली स्वभाव कभी बंधा ही नहीं हूँ तो फिर मुझे 'मुक्त' (हुआ) कहना तो गाली है। पर्याय को मुक्त (हुई) कहो वह तो ठीक है, क्यों कि वह बंधी हुई थी। परंतु मुझे तो मुक्त कहना भी ठीक नहीं है। *बोल नं. 375*

प्र०–४०१ पर्याय अपनी शुद्धता हेतु द्रव्य का अवलम्बन लेती है क्या यह कथन भी सापेक्ष है ?

उ0– परिणति, द्रव्य को कहती है कि–मैं भी स्वयं सत् हुँ स्वतंत्र हुँ, द्रव्य का अवलम्बन लेती हूँ—यह भी अपेक्षासे कहने में आता है; क्योंकि पर तरफ का वलण (झुकाव) छुटा है, इसलिए ऐसा कहने में आता है (कि स्व का अवलम्बन लिया) है। असल में तो परिणति (निरपेक्ष) अपने स्व सत् में ही (परिणमती) है। (अलिंगग्रहण २०वाँ बोल) *बोल नं. 376*

प्र०–४०२ सुख हेतु उपयोग को कहाँ झुकाना होगा ?

उ0– जो उपयोग पर में झुकता है उसको स्व में झुकाने का है (बस) इतनी सी बात है। *बोल नं. 377*

प्र०–४०३ शीघ्रता से मुक्तिमार्गकी प्राप्ति हेतु कहाँ और कैसा दुःख लगना चाहिए ?

उ0– बात यह है कि जितना तीव्र दुःख (विकल्परूप) पर्याय में लगे उतनी ही शीघ्रता से मार्ग प्राप्त होवे कम दुःख लगे तो देरी लगे। *बोल नं. 378*

प्र०–४०४ आनंद एवं सुख भोगने हेतु कहाँ जायें ?

उ0– ध्रुव गुफा के अंदर चले जाओ–वहाँ आनंद और सुख का निधान भरा है, उसको नित्य भोगो। *बोल नं. 379*

प्र०–४०५ पुरुषार्थ तो चारित्र में कहा जाता है तो क्या दृष्टि पलटने में पुरुषार्थ नहीं चाहिए ?

उ0– दृष्टि में पुरुषार्थ तो है, लेकिन चारित्र की अपेक्षा से बहुत कम पुरुषार्थ है। चारित्र में तो बड़ा पुरुषार्थ है।

*बोल नं. 380*



प्र०–४०६ निश्चय से हमारी अवस्था में क्या बीमारी है ?

उ0– उपयोग बाहर ही बाहर घूमता रहे.....बस यही बीमारी है, इसीको मिटाना है। *बोल नं. 381*

प्र०–४०७ निवृत्ति की भावना किसे होती है ?

उ0– निवृत्त स्वरूप की ओर जाना हो तो बाहर में भी निवृत्ति का ही लक्ष्य जाता है (आता है)। *बोल नं. 382*

प्र०–४०८ दिगम्बर आचार्यो के शास्त्रों को पढ़ने की विधि क्या हो ?

उ0– निवृत्ति लेकर एकांत में आचार्यों के शास्त्रों को पढ़े तो उसमें से बहुत (गहरी) बातें निकलती है; उनमें बहुत भरा है। आचार्यों के जो शब्द हैं न.....वे आनंद की बूँद बूँद हैं एक एक शब्द में आनंद की बूँद बूँद भरी है, आनंद की बूँद बूँद टपकती है, तो हमें (तो उसमें) रस आता है। *बोल नं. 383*

प्र०–४०९ बाहर के कोलाहल में भी आप अपना कार्य कैसे कर लेते है ?

उ0– मेरी तो ऐसी आदत पड़ गयी है कि बाहर में चाहे जैसी खड़खड़ाहट हो परंतु मेरे तो इधर (अंतर) का चलता है न....! तो उधर का लक्ष्य ही नहीं रहता। खड़खड़ाहट तो पसंद ही नहीं है। (अंगत) *बोल नं. 384*

प्र०–४१० आप अधिक समय कहाँ व्यतीत करना चाहते हैं ?

उ0– मुझे तो एकांत के लिए समय नहीं मिले तो चैन ही नहीं पड़ता। *बोल नं. 385*

प्र०–४११ घरवालों एवं बाहरवालों की हर प्रकार की प्रतिकूलता होने से (मैं) अपना कार्य कैसे करूँ ?

उ0– अपने अंदर में बैठकर अपना काम करो। अपना यह कार्य

अंदर में बैठकर करने में न घरवाले जानेंगे और न बाहरवाले जानेंगे। अपन क्या करते हैं और कहाँ है, यह भी कोई नहीं जानेगा। इस प्रकार अंदर में अपना काम हो सकता है। *बोल नं. 386*

प्र०–४१२ (बुद्धि कम होने पर भी) सच्ची समझ कैसे होवे ?

उ0– अरे! तीव्र धगश होगी तो समझ भी आ जायेगी।

*बोल नं. 387*

प्र०–४१३ अशुद्धता एवं शुद्धता का उपादान तो तत्समय की योग्यता है परंतु दोनों के निमित्त कौन है ?

उ0– देव आदि तथा स्त्री आदि सभी एक अशुद्धता के ही निमित्त है, और शुद्धता का निमित्त तो एक आप (निज त्रिकाली ध्रुव) ही है। *बोल नं. 388*

प्र०–४१४ आप तीर्थंकर गोत्र के भाव को कैसा अनुभवते ?

उ0– जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बंधता है, वह भाव भी नपुंसकता है–अपन तो ऐसा लेते हैं। (पू. गुरुदेवश्री भी इसे अधर्म कहते है) *बोल नं. 389*

प्र०–४१५ यदि भूमिका ही कच्ची होगी तो कार्य कैसे होगा ?

उ0– अपने पास तो कच्ची पक्की भूमिका की बात ही नहीं है। जो भूमिका (आश्रय लेने का विषय) प्रथम है सो ही अंत में है, अर्थात् अपन तो ऐसी भूमिका लेते है जो सदैव (एकरूप) टिकती है त्रिकाल है। *बोल नं. 390*

प्र०–४१६ राग प्रत्यक्ष भिन्न कब लगे ?

उ0– त्रिकाली में एकत्व होने पर राग भिन्न दिखता है कि जिस प्रकार अन्य चीज प्रत्यक्ष भिन्न दिखाई देती है (उसी प्रकार)



राग इतना प्रत्यक्ष जुदा दिखता है। *बोल नं. 391*

प्र०–४१७ भगवान की भक्ति से भी बड़ी कोई भक्ति होती है ?

उ0– भगवान की भक्ति का अर्थ है गुणानुवाद। शास्त्रस्वाध्याय में तो इससे भी अधिक भक्ति है। *बोल नं. 392*

प्र०–४१८ विकल्प मात्र कैसे लगें तब सुख की ओर जा सकें ?

उ0– विकल्प में दुःख ही दुःख लगना चाहिए। न्याय युक्ति से तो ऐसा मानें कि–ये विकल्प शांति को रोकते हैं, अनुभूति को रोकते हैं; अतः दुखरूप है; यदि ऐसा लगे तो दुःख (विकल्प) से हट कर सुख की ओर जावे ही। *बोल नं. 393*

प्र०–४१९ वस्तु पकड़ने को वांचन, मनन, घूँटन करना चाहिये न ?

उ0– बंधन रहित स्वभाव के लिए बांचन मनन घूँटन करूँ तो पकड़ में आ जावे ऐसी बात ही नहीं है। वह तो ''मैं त्रिकाली ही हूँ' इस प्रकार वर्तमान में ही उसमें थँभ जावो। (तो वह पकड़ में आया ऐसा कहा जाता है) *बोल नं. 394*

प्र०–४२० आत्मा को परमशुद्धनिश्चयनय से जानने पर क्या लाभ होगा ?

उ0– परमशुद्ध निश्चयनय से आत्मा बंधन का और मुक्ति का भी कर्त्ता ही नहीं है, इससे विकल्प और मोक्ष के कर्तृत्व (करने की भावना) का जोर खत्म हो जाता है। त्रिकाली में जमे रहें तो पर्याय भी इधर में सहज ही आयेगी।

*बोल नं. 395*

प्र०–४२१ पर का अवलम्बन कैसे टूटे ?

उ0– त्रिकाली शक्ति (वान) में अपनापन होते ही (अन्य) सभी अवलम्बन उखड़ जाते हैं। *बोल नं. 396*

प्र०–४२२ चर्चा–वार्ता होती हो तो स्पष्टता होती है फिर भी आप चर्चा आदि का निषेध क्यों करते हैं?

उ0– निषेध तो हर क्षण पग–पग पर करना ही चाहिए इधर (त्रिकाली में) ढलता जाता है तो निषेध (सहज) होता जाता है। *बोल नं. 397*

प्र०–४२३ आपकी बात में क्रम आता ही नहीं, आप तो एकदम अक्रम की बात करते हैं?

उ0– क्रम–क्रम क्या? अक्रम को (त्रिकाली स्वरूप को) पकड़े तो क्रम (पर्याय/विशेष) स्वयं (शुद्ध) होता है। *बोल नं. 398*

प्र०–४२४ यह सब ख्याल में होते हुए भी अंदर क्यों नहीं जम पाते?

उ0– बांचन–विचार आदि में तो अंदर से ही खरेखर दुःख ही दुःख लगना चाहिए, तभी उधर से छूटकर अंदर में गये बिना नहीं रह सकते हैं। युक्ति आदि से (बांचन–विचार) में दुःख समझा (क्या)? वहाँ तो सहज (में) दुःख कहाँ लगा? अंदर से सहज तीव्र दुःख लगे एवं उनमें थकान लगे तो वहाँ रुक ही नहीं सकते, इसीसे (ऐसा लगे तो) स्वरूप में आना सहज ही होता है। *बोल नं. 399*

प्र०–४२५ स्वरूप ढलन में तत्त्वविचार सहायक है क्या?

उ0– (वैसे ज्ञानी को स्वरूप में) ढलन तो निरंतर रहता ही है। तत्त्वविचार के काल में (एकाग्रता) में विशेष वृद्धि होती है, लेकिन विचार तो अटकाव ही है, विशेष ढलन (वृद्धि) का कारण नहीं, (ज्ञानियों को सहज ही) ढलन की निरंतरता तो रहती है यह (विचारादि) विशेष ढलन का कारण नहीं, वह तो अटकाव ही हैं, इसलिए विचारों की अधिकता नहीं होती।



त्रिकाली में ढलन होने से अपन ने तो पर्याय मात्र को गौण कर दिया है–ध्रुवदल ही अधिक है। *बोल नं. 400*

प्र०–४२६ पू. गुरुदेवश्री ने दुःख से बचने हेतु किसकी शरण बताई है?

उ0– दुःख है तो सही, मगर उस दुःख से बचायेगा कौन? खुद ही शरण है......यही पूज्य गुरुदेवश्री कहते हैं। *बोल नं. 401*

प्र०–४२७ क्या मुक्त शुद्ध पर्याय से, द्रव्य को मुक्त व शुद्ध बताना ठीक है?

उ0– मुक्त शुद्धपर्याय से द्रव्य को मुक्त व शुद्ध बताना वह तो कलंक है। (जैसे) पत्नी द्वारा पुरुष (पति) की पहचान कराना, वह तो पुरुष की हीनता है। *बोल नं. 402*

प्र०–४२८ आपकी दृष्टि में सबसे बड़ा पाप क्या है?

उ0– खुद से च्युत होना ही सबसे बड़ा पाप है? *बोल नं. 403*

प्र०–४२९ मुक्ति–मार्ग हेतु आगम में जो साधन कहे उन्हें साधन मानें कि नहीं?

उ0– व्यवहार से जो–जो साधन कहने में आते हैं वे सभी (निश्चय से) एकांतरूप से बाधक ही है। *बोल नं. 404*

प्र०–४३० जब मुनियों को भी गुरुओं के प्रति बहुमान आता है तव हमें भी गुरुओं का यथायोग्य विनय तो करना चाहिए?

उ0– (मुनि को) विकल्प–अंश क्षण भर आता है तो कहते हैं कि 'आकाश' आदि से भी गुरु महान हैं, गुरु की महानता में तो आकाश राई के दाने समान है–ऐसा सुनकर (व्यवहार के पक्ष वाला) वहाँ चोंट जाता है कि (गुरु) इतने महान है तो मैं विनयादि बराबर करूँ, नहीं तो (इस अभिप्राय में)

निश्चयाभासी हो जाऊँगा। परंतु भाई! निश्चयगुरु तो अपना आत्मा है; वह पड़ा रहा। *बोल नं. 405*

प्र०–४३१ बारम्बार अंतर का झुकाव किसे होता है?

उ0– दृष्टि का नशा चढ़ जाये तो बारंबार अंतर में ही वलण (झुकाव) होता है, बाहर में कुछ रुचता ही नहीं। *बोल नं. 406*

प्र०–४३२ दृष्टि का नशा कैसा होता है?

उ0– हाँ! दृष्टि का नशा ही ऐसा है, अन्य कुछ देखती ही नहीं. एक अपनी ओर ही दौड़ती है। इसलिए तो कहते हैं कि : सम्यग्दृष्टि को बाहर में चर्चा आदि में रुकना रुचता ही नहीं, वह तो अंदर ही अंदर जाना चाहता है। *बोल नं. 407*

प्र०–४३३ मुनियों की वैयावृत्ति करना तो श्रावक का कर्तव्य है?

उ0– शास्त्रों में आता है कि मुनिको रोग आदि के होने पर वैयावृत्य करना चाहिए। अरे भाई! ऐसा तो उस काल में (जो) सहज विकल्प में खड़ा हो, उसकी बात है। 'मुझे ऐसा करना चाहिए', ऐसा करना चाहिए–ऐसी दृष्टि पहले से रखी तो (यह) आस्रव की भावना हो गई। *बोल नं. 408*

प्र०–४३४ भूमिकानुसार ऐसे विकल्प होते हैं, ऐसा न लेकर योग्यतानुसार होते हैं ऐसा (आप) क्यों लेते हैं?

उ0– भूमिकानुसार ऐसे विकल्प होते हैं–ऐसा लेने में उसकी दृष्टि वैसे परिणाम करने में चौंट जाती है। और होने वाले योग्यतानुसार होते हैं–इस (अभिप्राय में) दृष्टि परिणाम करने पर नहीं रहती। अलग अलग काल में क्षणिक शुभ विकल्प जो योग्यतानुसार होने वाले हैं सो हो जाते हैं (इस अभिप्राय



में) अपरिणामी पर दृष्टि का जोर रहता है। *बोल नं. 409*

प्र०–४३५ तत्त्वरुचिवालों को परिणाम संबंधी कैसा निर्णय होता है?

उ0– असल में तीव्र रुचि हो तो त्रिकालीदल में जम जाये; इधर उधर कहीं जचे ही नहीं, (परिणामों को) योग्यता पर छोड़ देवे, वहाँ जोर रहे ही नहीं; दृष्टि के विषय में ही जोर रहे। *बोल नं. 410*

प्र०–४३६ उत्कृष्ट पुण्य कब होता है?

उ0– सुनने–करने के भाव में जो पुण्य होता है; वह तो मध्यम प्रकार का पुण्य है; और इधर (त्रिकाली में) स्व सन्मुख का प्रयास चलता हो उसमें उत्कृष्ट पुण्य होता है? *बोल नं. 411*

प्र०–४३७ अवेदक स्वभाव पकड़ने की पात्रता क्या है?

उ0– (रागादिक विकल्परूप) वेदन में दुःख लगे, सह न सके, तो अवेदक स्वभाव को पकड़े बिना न रहे। *बोल नं. 412*

प्र०–४३८ सुनते समय भी अंतर की रुचि कितनी अधिक होना चाहिए?

उ0– सुनने की रुचि तो सभी को ठीक है; परंतु उससे अनंतगुणी रुचि अंदर की होनी चाहिए। *बोल नं. 413*

प्र०–४३९ सुख तो अंदर में है, फिर वृत्ति बाहर में क्यों दौड़ती है?

उ0– सुख अंदर में लगा ही नहीं, वह तो नाम निक्षेप से ख्याल में आया है कि 'सुख यहाँ है;' असल में तो (अभिप्राय में) वैसा लगा नहीं। *बोल नं. 414*

प्र०–४४० इतना सुनने के बाद अब तो प्रयोग करना है न?

उ0– फिर वही बात आ जाती है प्रयोग ही 'मैं नहीं हूँ, तो करना क्या? प्रयोग पर्याय में हो जाता है (ध्रुव में नहीं)। *बोल नं. 415*

प्र०–४४१ किसका बल आना चाहिए ?

उ0– असल में तो बलवान वस्तु (स्वयं त्रिकाली ध्रुव) का बल आना चाहिए । *बोल नं. 416*

प्र०–४४२ अस्ति मुख्य होना चाहिए या नास्ति ?

उ0– विकल्प में दुःख लगना यह भी नास्ति है । अस्ति में तो 'मैं सुख से भरपूर हूँ सुख की खान (ही) हूँ । (यही मुख्य रहना चाहिए ।) *बोल नं. 417*

प्र०–४४३ यथार्थ लगनी की क्या पहचान है ?

उ0– यथार्थ लगनी लगे तो हर समय यही (स्वरूप रुचि) चलती रहे कितना समय चला जाये मालूम ही न पड़े । रुचि का स्वरूप ही ऐसा है कि जहाँ लगे वहाँ काल (समय) दिखे ही नहीं । (वैसे आप) सभी को लगनी तो अच्छी है लेकिन (अपरिणामी की) यथार्थ लगनी लगना चाहिए । *बोल नं. 418*

प्र०–४४४ परिणति को अंदर कैसे (झुकाना) वालना ?

उ0– परिणति 'वालना' और 'नहीं वालना' वह 'मैं' नहीं हूँ ऐसी दृष्टि होते ही परिणति (अंदर) वल (झुक) जाती है । *बोल नं. 419*

प्र०–४४५ किसी के अति प्रेम में क्या हानि होती है ?

उ0– किसी के भी प्रति अनहद प्रेम हो तो (उसमें) खुद को ही भूल जाते है (यह हानि है) । *बोल नं. 420*

प्र०–४४६ सुनने की विशेष पात्रता कैसी होती है ?

उ0– सुनते ही चोट लगे (हृदय में असर हो) यह भी एक (विशेष) पात्रता है । *बोल नं. 421*



प्र०–४४७ अभिप्राय की पहचान किस प्रकार होती है ?

उ0– बोलने में खुद का अभिप्राय आये बिना रहता ही नहीं । दूसरे की बात कहने जावे लेकिन अपना रस साथ में आ जाता है । *बोल नं. 422*

प्र०–४४८ कृपया धारणा ज्ञान एवं अनुभव ज्ञान का अंतर समझायें ?

उ0– धारणा तो बंद तिजोरी की तरह है, धारणा जवाब नहीं देती । प्रसंग आने पर दुःख को वेद ही लेती है और फिर थोड़ी देर बाद स्मरण करके समाधान करता है; ऐसी धारणा का क्या (क्या कीमत) ? अनुभववाले की तो (विवेक की) तिजोरी (सदा) खुली हुई है । *बोल नं. 423*

प्र०–४४९ अनुभव के पहले स्वभावका पक्ष तो आता है न ?

उ0– 'पक्ष करना' कहने में आता है तो जीव पक्ष में बैठ जाता है । अरे भैया ! (स्वभाव का) पक्ष तो हो जाता है, (जिसे) स्वभाव रुचता है तो स्वभाव का पक्ष हो जाता है । लेकिन पक्ष करने तक का ही प्रयोजन थोड़े ही है । *बोल नं. 424*

प्र०–४५० पहले चिंतन तो होता है न ?

उ0– अरे भाई ! पहले पीछे की बात ही नहीं है, मैं ही (त्रिकाली ध्रुव) पहला हूँ, यहाँ से लो । चिंतन हो लेकिन 'पहले' कहने से तो उस पर वजन आ जाता है । *बोल नं. 425*

प्र०–४५१ चिंतन आदि करेंगे तब ही आगे बैठेंगे न ?

उ0– चिंतन आदि से आगे बढ़ना होता है–ऐसा कहने में आता है; चूंकि पहले (मैं ध्रुव हूँ ऐसा) लक्ष्य यथार्थ हो गया है तो इसका चिंतन (सहज) चलता है, लेकिन इसका (चिंतन का) भी निषेध करते करते आगे बढ़ता है । *बोल नं. 425*

प्र०–४५२ अपने कार्य में पर सहायक हो सकता है क्या ?

उ0– खुद ही से काम होगा यह पहले पक्का हो जाना चाहिए। खुद का बल आये बिना तो (अन्य) कोई आधार (सहारा) नहीं है। *बोल नं. 426*

प्र०–४५३ 'मैं वर्तमान में परिपूर्ण हूँ' यह समझा, फिर क्या करना ?

उ0– 'मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ'—ऐसा सुनते ही, 'कुछ करना धरना है ही नहीं'–ऐसा उल्लास तो प्रथम से ही आना चाहिए और फिर उसी की पूर्ति के लिए प्रयास करना चाहिए। *बोल नं. 427*

प्र०–४५४ मैं पहले सब समझ तो लूँ फिर प्रयास करुंगा क्या यह ठीक है ?

उ0– 'पहले मैं सब समझ लूँ' पीछे प्रयास करूँगा' ऐसे तो कार्य होगा ही नहीं। सुनते ही प्रयास चालू हो जाना चाहिए। फिर थोड़ी रुकावट आवे तो उसे दूर करने के लिए सुनने समझने का भाव आता है; परंतु 'मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ' वहाँ चोंटे रहकर ही सब प्रयास होना चाहिए वहाँ से तो छूटना ही नहीं चाहिए। *बोल नं. 428*

प्र०–४५५ शुद्ध पर्याय से लाभ, अशुद्ध पर्याय से हानि है क्या ?

उ0– केवलज्ञान से अपने को लाभ होने वाला नहीं और शुभाशुभ भावों से अपने को नुकसान होने वाला नहीं, मैं तो ऐसा तत्त्व हूँ।

जैसे कोई मेरु से माथा मारे तो उससे मेरु हिलता नहीं, इसीप्रकार परिणाम मेरे से टकराते हैं तो भी 'अपन' परिणाम से हिलने (प्रभावित होने)वाले नहीं है। *बोल नं. 429*



प्र०–४५६ कहाँ अहं करें (बैठें) कि निष्कम्पता आये ?

उ0– परिणाम में बैठे हो (अब) तो द्रव्य में बैठ जाना है। परिणाम तो कम्पायमान हैं, द्रव्य निष्कम्प है। कँापानेवाले परिणामों के आश्रय से कम्पित ही रहोगे, निष्कंप द्रव्य के आश्रय से निष्कम्पता होगी। *बोल नं. 430*

प्र०–४५७ सत्संग करने के भाव में भी कैसा लगना चाहिए ?

उ0– संग करने का भाव आवे (उसी समय) संग नहीं करना है ऐसा भाव कायम रखकर (मुख्य कर) ही संग का भाव होना चाहिए। *बोल नं. 431*

प्र०–४५८ अपने भावों को किस रूप बनायें कि सुखी हों ?

उ0– अपने को भावाकार (परिणाम रूप) मत बनाओ, लेकिन भावों को अपने (ज्ञायक) आकार (रूप) बनाओ। *बोल नं. 432*

प्र०–४५९ कर्मों को भगाने का क्या उपाय है ?

उ0– एक समय की पर्याय में अपनापन करके ढीलाढच (अनित्य) रहने से तो कर्मवर्गणायें घुस जाती हैं और त्रिकाली नक्कर स्वभाव में अपनापन होते ही तणाव (खिचाव) होते ही कर्मादि भागने लगते हैं। *बोल नं. 433*

प्र०–४६० सामान्य पड़खे को ही जुदा पाड़ना है न ?

उ0– ऐसा कहने में आता है। सामान्य पड़खा तो जुदा ही पड़ा है, लेकिन (अनादि से) परिणाम में एकत्व कर रखा है—इसलिए अलग होने को कहने में आता है; असल में तो (सामान्य पड़खा अनादि से) जुदा ही पड़ा है। *बोल नं. 434*

प्र०–४६१ आप की शैली में द्रव्य ही की प्रधानता क्यों आती है ?

उ0– (मुझे) द्रव्य का बहुत पक्ष (एकत्व) हो गया है—इसलिए

कथन में द्रव्य से ही सब बातें आतीं हैं। *बोल नं. 435*

प्र०–४६२ सुख कौन ढूंढ लेता एवं कौन नहीं?

उ0– (जिस) जीव को दु:ख लगता तब (वह) प्रयास कर करके सुख को ढूंढ लेता है। लेकिन जो धारणा में संतुष्ट हो जाता है, तो (उसे उसरूप विकल्प में) दु:ख नहीं लगता, इसलिए इधर (अंतर में सुख) ढूंढ़ता ही नहीं। *बोल नं. 436*

प्र०–४६३ कहाँ दृष्टि करने पर मुक्तिमार्ग एवं मुक्ति होती है?

उ0– इधर (त्रिकाली) की दृष्टि होते ही मुक्ति चालू हो जाती है, चालू क्या हो जाती है (समझो) मुक्ति हो ही गई।

*बोल नं. 437*

प्र०–४६४ किस का पक्ष आना चाहिए?

उ0– असल में (त्रिकाली) द्रव्य का पक्का (यथार्थ) पक्ष आ जाना चाहिए। अनादि का पर्याय पक्ष छूट जाना चाहिए।

*बोल नं. 438*

प्र०–४६५ अंदर में तो कुछ दिखता नहीं अत: स्थिरता होती नहीं, इसलिए सुनने का भाव (अभिप्राय) रहता है, क्या करें?

उ0– इस (अभिप्राय) में तो व्यवहार श्रद्धा भी नहीं आई, सुनने (मात्र)का अभिप्राय ही नहीं होना चाहिए। सुनते ही इधर (अंतर्मुख) का प्रयास चालू हो जाना चाहिए। *बोल नं. 439*

प्र०–४६६ किस कारण अखण्ड वस्तु जानने में नहीं आती?

उ0– एक एक पड़खे (गुण भेद आदि) को जानने जाते हो तो अखण्ड वस्तु जानने में रह जाती है। *बोल नं. 440*

प्र०–४६७ अनुभव में अंतराय कब आता है?

उ0– (जब) उपयोग बाहर जाता है तब 'अपने' अनुभव में



अंतराय आता है। *बोल नं. 441*

प्र०–४६८ क्या 'दृष्टि' ध्रुव का अवलम्बन लेती है या स्वयं ही स्वयं को वस्तु (ध्रुव) रूप वेदती है?

उ0– 'दृष्टि' वस्तु का अवलंबन क्या लेती है!! वह तो समूची वस्तु को ग्रास कर जाती है; पूरी की पूरी वस्तु में व्याप्त हो जाती है; मालिक बन जाती है। मालिक कहने में भी भेद आता है। 'दृष्टि' तो स्वयं ही उस (ध्रुव) वस्तुरूप है (हो जाती है / मानती है तब यह कहने में आता है)। *बोल नं. 442*

प्र०–४६९ पर्याय की सिद्ध करने का हेतु क्या, एवं पर्याय की सिद्ध मात्र से अज्ञानी क्या भूल करता है?

उ0– 'वेदांत' न हो जाये; इसलिए जरा......पर्याय कों बताते हैं, तो (अज्ञानी) वहाँ चोंट जाता (उसे सर्वस्व मान लेता) है।

*बोल नं. 443*

प्र०–४७० निश्चय से बौद्धमत का क्या स्वरूप है?

उ0– असल में तो पर्याय में अपनापन वही बौद्धमती है।

*बोल नं. 444*

प्र०–४७१ बाह्यपदार्थों में सुख का निषेध कौन करता है?

उ0– सहज सुख (ही अन्य) सभी का, सहज ही निषेध करता है।

*बोल नं. 445*

प्र०–४७२ सराग भेद भक्ति एवं वीतराग अभेद भक्ति में कितना अंतर होता है?

उ0– एक आदमी ने कहा मुझे तो ज्ञानमार्ग कठिन लगता है, भक्तिमार्ग अच्छा लगता है। अरे भैया! एक ही चीज (त्रिकाली) में रस आना वही भक्ति है। (सराग) भक्ति के राग

का अनुभव तो अमृत को छोड़कर कीचड़ का अनुभव है। अपनी चीज (त्रिकाली ध्रुव) में स्थिर होकर ठहर जाना, वही यथार्थ (वीतराग अभेद) भक्ति है। *बोल नं. 446*

प्र०–४७३ रुचि का सच्चा स्वरूप क्या ?

उ0– रुचि तो उसको कहते हैं कि जिस विषय की रुचि होवे उसके बिना एक क्षण भी नहीं चल सके। पतंगा दीपक को देखते ही चोंट जाता है; विचार नहीं करता। ऐसे ही विचार–विचार करते रहने से क्या? वस्तु को चोंट जाओ। पूरी की पूरी वस्तु में व्याप्त होकर (उसे) ग्रस लो। *बोल नं. 447*

प्र०–४७४ अज्ञानी को क्षयोपशम बढ़ने पर क्या हानि होती है?

उ0– (अज्ञानी का यदि) क्षयोपशम बढ़ता जाता है तो साथ साथ अभिमान भी बढ़ता जाता है। *बोल नं. 448*

प्र०–४७५ ज्ञानी को राग में एकत्व क्यों नहीं होता?

उ0– मुँह में पानी के साथ कचरा आते ही खदबदाहट होने से उसे मुँह से निकाल (थूँक) दिया जाता है। इसी प्रकार राग का वेदन तो कचरा (जैसा) है, ज्ञानी उसको अपना नहीं मानते। (अतः) ज्ञानी को किसी भी क्षण राग में अपनापन आता ही नहीं। *बोल नं. 449*

प्र०–४७६ ज्ञानियों को राग बोझा (भार) रूप क्यों लगता है?

उ0– ज्ञानी को राग बोझारूप लगता है (क्योंकि) भारी चीज के ऊपर हलकी चीज हो तो बोझा नहीं लगता, लेकिन हलकी चीज पर तो भारी चीज का बोझा लगता ही है। इसीप्रकार ज्ञानियों को राग (ज्ञायक की अपेक्षा भारी होने से) बोझारूप लगता है, खटकता है, खूँचता (सालता) है। *बोल नं. 450*



प्र०–४७७ विचार और धारणा (स्मृति) वस्तु प्राप्ति में सहायक कारण है?

उ0– विचार और धारणा में वस्तु को पकड़ने की सामर्थ्य ही नहीं है, अज्ञानी वस्तु को पकड़ता (तो) नहीं है विचार (करता है इस) में तो वस्तु परोक्ष और दूर रह जाती है। *बोल नं. 451*

प्र०–४७८ प्रतिकूल संयोगों में तो दुःख लगता है लेकिन विकारी भावों में दुःख क्यों नहीं लगता?

उ0– यह तो बहुत स्थूलता है। (जो) विकारी भाव हुआ वही प्रतिकूल संयोग है, वही दुःख है उसका (ही) दुःख लगना चाहिए। *बोल नं. 452*

प्र०–४७९ अपने में जितना सुख भरा, उसे कैसे समझ सकते?

उ0– आत्मा के (हमारे) एक एक प्रदेश में अनंत अनंत सुख भरा है ऐसे (मेरे) असंख्य प्रदेश सुख से ही भरपूर है– चाहे जितना सुख पी लो कभी खूटेगा (समाप्त होगा) ही नहीं। हमेशा सुख पीते रहो फिर भी कमी नहीं होती। *बोल नं. 453*

प्र०–४८० वस्तु के बारे में सोचें सुनें या सीधा ग्रहण करें?

उ0– सोचते रहने से तो जागृति नहीं होती, ग्रहण करने से ही जागृति होती है। सोचने में वस्तु परोक्ष रह जाती है और ग्रहण करने में वस्तु प्रत्यक्ष होती है। सुनते रहने और सोचते रहने से वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, (प्रथम से) ग्रहण करने का ही अभ्यास शुरू होना चाहिए। *बोल नं. 454*

प्र०–४८१ भक्ति आदिके भावों में निषेध्य-निषेधक संबंध कैसे घटता है?

उ0– (त्रिकाली) वस्तु तो शुद्धभक्ति (शुद्धपर्याय) का भी निषेध करती

है शुद्धभक्ति (निश्चय रत्नत्रय) व्यवहार का निषेध करती है। व्यवहारभक्ति (शुभभाव) अन्य सभी पदार्थों (पापभाव) का निषेध (उपेक्षा) करती है। *बोल नं. 455*

प्र०-४८२ सच्ची रुचि की क्या पहचान है?

उ0- (सच्ची) रुचि अपने विषय में बाधक पदार्थों को फट फट हटा देती है; उसमें रुकती नहीं, (सीधे) अपने विषय को ही ग्रहण कर लेती है। *बोल नं. 456*

प्र०-४८३ बुद्धि में सूक्ष्मता कैसे आती है?

उ0- जिसको जिसकी प्राप्ति करनी है उस विषय में उसको सूक्ष्मता आ जाती है अर्थात् प्रयोजन के विषय में बुद्धि अधिक सूक्ष्म हो जाती है (ऐसा नियम है) *बोल नं. 457*

प्र०-४८४ नजर में तो पर पदार्थ आते है, स्व वस्तु नजर में नहीं आती तो क्या करना?

उ0- जिस क्षेत्र में नजर का परिणाम हो रहा है उसी आखे के आखे (पूरे के पूरे) क्षेत्र में वस्तु पड़ी है जहाँ से नजर उठती है......वहीं (उन्हीं प्रदेशों में) वस्तु को ढूँढ़लो। *बोल नं. 458*

प्र०-४८५ उपयोग स्वसन्मुख होता है तब जैसी भिन्नता भासती है वैसी (ही भिन्नता) ज्ञानीको विकल्प के काल में भासती है क्या?

उ0- (ज्ञानी को) विकल्प के काल में भी प्रत्यक्ष भिन्नता का अनुभव है। मगर उपयोग को क्यों मुख्य करते हो? मैं तो ध्रुव तत्त्व हूँ इसकी मुख्यता करनी चाहिए। श्रद्धा-ज्ञान विकल्प के काल में भी खाली पड़े हुए नहीं हैं लेकिन (वह तो) परिणमन रूप हैं। (अत: भिन्नको भिन्नरूप मानते और जानते हैं) *बोल नं. 459*

प्र०-४८६ अनुभव हेतु ग्रहण करना, पकड़ना, ढ़लना सन्मुख होना आदि



कहने में आता है इसका आशय क्या?

उ0- वस्तु को ग्रहण करना, पकड़ना, सन्मुख वलना (ढलना) यह सब कथन में आता है। असल में तो त्रिकाली वस्तु में अहंपना आ जाना, उसी को-ग्रहण किया, सन्मुख हुआ, आश्रय लिया, पकड़ा—ऐसा कहते हैं। असल में परिणाम भी सत् है उसको अन्य का अवलम्बन नहीं है। (अलिंग्रहण का बीस वां बोल) *बोल नं. 460*

प्र०-४८७ तीव्र रुचि वालों को हर समय कैसी जागृति होना चाहिए?

उ0- (यदि रुचि तीव्र है तो) हर क्षण मृत्यु के लिए तो तैयार ही रहना; कभी भी हो और कैसी भी वेदना हो, फिर भी क्या? (मैं त्रिकाली ध्रुव तो हर क्षण पूर्ण सुरक्षित हूँ)। *बोल नं. 461*

प्र०-४८८ कौन सा ज्ञान सुख देता है?

उ0- विकल्पात्मक निर्णय (से) छुटकर (जो) स्वाश्रित ज्ञान उघडता है जो ज्ञान.....सुख को देता है वही ज्ञान 'ज्ञान' है। (सिद्ध हुआ कि सम्यक्ज्ञान और सुखका अविनाभावी सम्बन्ध है) *बोल नं. 462*

प्र०-४८९ क्या व्यवहार सर्वथा असत्य है?

उ0- (नहीं) व्यवहार व्यवहार की अपेक्षा सत्य ही है। *बोल नं. 463*

प्र०-४९० वस्तु पकड़ने के पूर्व क्या करना चाहिए?

उ0- जिस चीज को पकड़नी है उसको पहले (सम्यक् प्रकार से) समझ लेना चाहिए। *बोल नं. 464*

प्र०-४९१ क्या आत्मा का उपयोग पर सन्मुख जाता है यदि नहीं तो कैसे?

उ0- (जो) परसन्मुख उपयोग होता है, वह आत्मा का उपयोग

ही नहीं है, अनुपयोग है । आत्मा का उपयोग तो पर में जाता ही नहीं और पर में जावे यह (आत्माका) उपयोग ही नहीं (वह तो इन्द्रियज्ञान अर्थात् ज्ञेय है) । (प्र.सार गाथा ८०) *बोल नं. 465*

प्र०-४९२ जब ध्रुव में पर्याय नहीं है तो पर्याय सापेक्ष कथन ही क्यों किये जाते हैं ?

उ०- ध्रुवतत्त्व को समझने के लिए पर्याय के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, इसलिए पर्याय (अपेक्षा) से सभी बातें कहने में (समझाने में) आतीं हैं । *बोल नं. 466*

प्र०-४९३ आनंद के वेदन की चाह में क्या हानि है ?

उ०- अनंत आनंद का वेदन आवे-वह भी मैं नहीं हूँ क्योंकि वेदन का मेरे में अभाव है । 'मैं' एक समय के वेदन में आ जाऊँ तो मेरा नाश हो जाए । *बोल नं. 467*

प्र०-४९४ ज्ञानी के विकल्पात्मक देव-गुरु-प्रति का व्यवहार एवं निश्चय अभिप्राय में कितना अंतर हो सकता है ?

उ०- विकल्प उठे तो ऐसा कहे कि हे गुरु! आप मेरे सर्वस्व हैं, (लेकिन) उसी समय अभिप्राय तो यह कहता है कि 'मुझे आपकी जरूरत नहीं; मेरा सर्वस्व तो मेरे पास है; इतना विश्वास और (स्वरूप का) उल्लास तो जरूर आ जाना चाहिए कि मुझे देव-गुरु की भी जरूरत नहीं, सुनने करने की भी जरूरत नहीं, मेरा कार्य मेरे से ही होगा । *बोल नं. 468*

प्र०-४९५ हमारी पर से जुड़ने की वृत्ति क्यों रहती है ?

उ०- दूसरों से लाभ बुद्धि है; तभी तो उसीमें जुड़ने की तीव्र वृत्ति नियम से रहती है । *बोल नं. 469*

प्र०-४९६ दृष्टि अपेक्षा अपने को पूर्ण देखने पर भी मुनिराज परिणति में पामरता क्यों अनुभवते हैं ?



उ०- दृष्टि तो हरसमय अपने को पूर्ण ही देखती है (फिर भी) मुनि भी ऐसा कहते हैं कि 'हम तो पामर है' क्योंकि उन्हें तो अपनी खिली हुई परिणति की तुलना पूर्ण (स्वरूप) के साथ करते हुए, अपनी पामरता लगती है—इस अपेक्षा से कहते हैं। (उसी समय) दृष्टि तो साधक-बाधक ही नहीं स्वीकारती है । *बोल नं. 470*

प्र०-४९७ अनुभवोपरांत आगामी पर्याय हेतु कुछ पुरुषार्थ करना चाहिए कि नहीं ?

उ०- (आगामी) पर्याय नई घड़नी नहीं है । इधर (द्रव्य में) दृष्टि होते (ही) (जो पर्यायें) पड़ी है...... सो प्रगट हो जाती हैं (होतीं रहतीं हैं) । *बोल नं. 471*

प्र०-४९८ आगम में परलक्षी उपयोग को अचेतन क्यों कहा है ?

उ०- (क्योंकि एकांत) परलक्षी उपयोग में राग को भिन्न जानने की ताकत नहीं है (इसलिए) परलक्षी उपयोग को अचेतन ही गिनने में आता है । *बोल नं. 472*

प्र०-४९९ आप तो पर द्रव्य के चिंतन को राग कहते हैं जब कि प्रवचनसारजी की ८० गाथा में केवली के द्रव्य-गुण-पर्याय जानने से मोह क्षय होता ऐसा कहा है, तब दोनों विवक्षायें समझाने की कृपा करें ?

उ०- पहले तो असली बात नक्की कर लो, फिर अपेक्षित बातों की खतियान कर लो, (विवक्षा समझो) एक ओर पर द्रव्य का चिंतन राग का कारण बतावें; दूसरी ओर केवली के द्रव्य गुण पर्याय का चिंतन मोह क्षय का कारण बतावें ।— सो (तो) ''पर द्रव्य का चिंतन राग का (ही) कारण है यह तो सिद्धांत है''; और मोह क्षय का कारण तो निमित्त की

अपेक्षा (व्यवहार) से बताया है। ऐसे सभी जगह 'निरपेक्ष' बात निश्चित कर फिर 'अपेक्षित' (व्यवहारकी) बात को समझ लेना है। *बोल नं. 473*

प्र०–५०० मृत्यु निश्चित है—यह जान कर हमें हर समय क्या तैयारी रखना चाहिए?

उ0– मृत्यु कब आने वाली है यह तो निश्चित नहीं परंतु आयेगी सो तो निश्चित है; इसलिए हर क्षण तैयार रहना है। शरीर के टुकड़े टुकड़े हो जायें, रोम-रोम पर धधकती सुईयाँ लगा दी जायें......फिर भी अपने ध्रुव तत्त्व में इनका प्रवेश ही कहाँ है? *बोल नं. 474*

प्र०–५०१ आपने कुछ दिन पहले कहा था कि मरण समय रुचि का विषय मुख्य होता है अत: हम अभी से कैसा अभ्यास करें?

उ0– पहले से ही शरीर की भिन्नता का जिसने अभ्यास किया तो वह ही मरण समय टिक सकता है। क्योंकि जिसकी जो रुचि होती है, वह मरण के समय मुख्य हो जाती है अतः जिसने पहले से ही (पर एवं पर्याय से) भिन्नता का अभ्यास किया है वह ही टिक सकेगा। *बोल नं. 475*

प्र०–५०२ क्या मरण समय के परिणामों से हमारे भविष्य में कितने भव है उनकी संख्या का अंक निश्चित हो सकता?

उ0– उत्कृष्ट पात्र होवे–जिसकी एक-आध भव में मुक्ति होने वाली हो वही (मरण समय) निर्विकल्प समाधि रख सकता है। इससे नीचे वाले की विकल्प पूर्वक इसी तत्त्व की दृढ़ता का चिंतन चलता है। उससे नीचे वाले को देव शास्त्र गुरु की भक्ति का विकल्प आता है। 'साधक को तो (यदि) आकरी (तीव्र) वेदना आदि हो, कुछ भी न चले, तो भी



ध्रुव तत्त्व की अधिकता तो छूटती ही नहीं।' *बोल नं. 475*

प्र०–५०३ हमें अपनी पात्रता समझ में आ सकती है क्या?

उ0– अपने से अपनी पात्रता मालूम हो जाती है; दूसरा कहे न कहे–इससे मतलब नहीं है। द्रव्य स्वतंत्र है न। इसको पर की अपेक्षा ही नहीं है। *बोल नं. 476*

प्र०–५०४ क्या ज्ञानी को आंशिक या पूर्ण शुद्धता का ध्येय नहीं है?

उ0– आंशिक शुद्धता (मोक्षमार्ग) क्या, पूर्ण शुद्धता (मोक्ष) भी ज्ञानी का (आश्रययोग्य) ध्येय नहीं है; (क्योंकि) मैं तो त्रिकाली शुद्ध ही हूँ (यही ध्येय है)। *बोल नं. 477*

प्र०–५०५ राग हेय तो सुना है परंतु क्या ज्ञान पर्याय भी किसी अपेक्षा से हेय है?

उ0– आचार्यदेवने 'नियमसार' में कहा है–कि भाई केवल-ज्ञानादिक (क्षायिक) पर्याय भी परद्रव्य है परभाव है (आश्रय /अहं अपेक्षा) हेय है। तब तुम क्षयोपशम ज्ञान में तो रुको ही मत। *बोल नं. 478*

प्र०–५०६ कैसे जानें कि मुझे अभी भी परिणाम का लक्ष्य है।

उ0– जहाँ तक परिणाम का लक्ष्य रहता है वहाँ तक ''मैं पुरूषार्थ करूँ, अंतर में वलुँ (ढलुँ)—ऐसे कर्तृत्व का बोझा रहा ही करता है। इसलिए तो कहता हूँ कि भाई! 'तूं परिणाम मात्र का लक्ष्य छोड़ विकल्प निर्विकल्प सभी पर्यायों का लक्ष्य छोड़ अनुभव हुआ, नहीं हुआ वह न देख। (स्वयं को अपरिणामी देखो/वेदो) *बोल नं. 479*

प्र०–५०७ अनादि से चले आ रहे मिथ्यात्व का नियम से नाश कैसे हो?

उ0– मिथ्यात्व हो या सम्यक्त्व हो, यह देखो ही मत। मैं तो ध्रुव

तत्त्व हूँ—यहाँ (ध्रुव में) आते ही मिथ्यात्व पर्याय भी निश्चय से नियम से चली जायेगी। दृष्टि के निर्णय में पूर्ण शुद्धि भरी हुई है। *बोल नं. 480*

प्र०–५०८ ध्रुव तत्त्व किसे नमता है?

उ0– यह ध्रुवतत्त्व (मैं) किसी को नमता (झुकता) ही नहीं हूँ, खुद की सिद्ध पर्याय को भी नहीं नमता(यह समझो)। *बोल नं. 481*

प्र०–५०९ मुनिराज भी पराश्रयभाव छोड़ना चाहते है यह बात उदाहरण देकर समझाने की कृपा करें?

उ0– मुनिके पास कोई शास्त्र हो और कोई उस शास्त्र को माँगे तो मुनि फौरन दे देते हैं। क्योंकि वे खुद ही तो पराश्रयभाव छोड़ना चाहते हैं। इसीसे (दूसरा) मांगे तो सहज दे देते हैं। *बोल नं. 482*

प्र०–५१० ज्ञानीयों को प्रेम की अधिकता बाह्यभक्ति में होती या अंतर भक्ति में?

उ0– ज्ञानी को भगवान की रागवाली भक्ति का प्रेम होता (दिखता है) लेकिन इधर की (अंतरंग) भक्ति में जैसा प्रेम है, वैसा वहाँ नहीं होता। *बोल नं. 483*

प्र०–५११ आप पू. गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनते ही अंतर में कैसे उतर गये?

उ0– मैं विकल्प से इकदम थक गया था, तभी (तो जैसे किसी को) ऊपर से एकदम नीचे पटकें, वैसे पर्याय से छूटकर अंतर में उतर गया। (अंगत) *बोल नं. 484*

प्र०–५१२ आप आज कल शास्त्रस्वाध्याय बहुत कम करते हैं ऐसा क्यों?

उ0– पुस्तकों का बहुत पठन था, सैकड़े पुस्तकें पढ़ ली थीं मगर



दृष्टि नहीं मिली। पू. गुरुदेव से दृष्टि मिली पीछे पुस्तकें पढ़ने का रस कम हो गया। (अंगत) *बोल नं. 485*

प्र०–५१३ देव-शास्त्र-गुरु की शरण में आकर भी यह जीव क्यों मिथ्यात्व की पुष्टी करता है?

उ0– जैसे संयोग की इच्छावाले को इच्छानुसार संयोग का मिलना पुण्य का उदय तो है, लेकिन उससे वह (उसे भोगने में) पाप की पुष्टि करता है। वैसे ही देव शास्त्र गुरु का मिल जाना यह पुण्य का उदय तो है, लेकिन उनके प्रीति के भाव में मग्नता होनी (उन्हें ही सर्वस्व मानना) वह मिथ्यात्व के पाप की ही पुष्टि है। *बोल नं. 486*

प्र०–५१४ पूज्य गुरुदेव ने समयसारजी के सोलहवीं बार के ७४ गाथा के प्रवचन में कहा था कि अति विकल्प वालों को निंद्रा ज्यादा आती है, इसे आप तर्क सहित समझाने की कृपा करें?

उ0– (विकल्पों की मंदता में) रात्रि में निंद्रा सहज कम हो जाती है; क्यों कि सच्चा आराम तो स्वरूप में ही है, तो उस तरफ की एकाग्रता में निंद्रा तो सहज ही कम हो जाती है।

जिसको सारे दिन इधर उधर के विकल्पों की थकान बहुत होता है उसको आराम के लिए निंद्रा विशेष आती है। लेकिन जिसको इधर उधर करने का कर्तृत्व ही छूट गया है; उसे थकान न होने से निंद्रा भी कम आती है। जैसे मुनिराजों को अंतर की जागृति के कारण विकल्पों की थकान नहीं है, तो निद्रा भी कम है। *बोल नं. 487*

प्र०–५१५ क्या आपको भी नींद कम आती है?

उ0– मुझे तो (सोते वक्त) पहले दो घण्टे नींद नहीं आती हैं; फिर थोड़ी नींद आ जाये तो जागते ही ऐसा लगता है क्या नींद

आ गई थी। पीछे नींद उड़ जाती है और यही (स्वरूप घोलन) चलने लगता है। (अंगत) *बोल नं. 487*

प्र०–५१६ विद्वानों को इतना ज्ञान होने पर भी कहाँ अटकाव होता है?

उ0– जैसे उधर के पण्डितों को लगता है कि हम सब जानते है; उसीप्रकार (यहाँ के) वांचनकार हो जायें और उघाड़ हो जाये तो (लगे) हम समझते हैं (इसमें) अटक जाते हैं। ऐसे वह उघाड़ रुकने का (अटकने का) साधन हो जाता है। पण्डितों का संसार तो शास्त्र कहा है न! *बोल नं. 488*

प्र०–५१७ मुझे अंतर का रस बढ़ रहा है यह कैसे पहचानें?

उ0– असल में सुनने आदि का रस कम हो जाना चाहिए वह कम कब होगा कि जब अंदर का रस बढ़ता जावे तभी उधर का रस कम होता जाता है। शुरु से ही उधर का (सुनने का) जोर नहीं आना चाहिए। (यह लक्षण अंतर रस वालों का है) *बोल नं. 489*

प्र०–५१८ क्या आपको दूसरे जीवों का भी हित हो यह भाव आता है।

उ0– दूसरों के लिए अमुक प्रवृत्ति (चिंता) करना, वह तो बोझा हो गया। यहाँ (मुझे) तो सहज (रहने) की आदत है। दूसरे हमारे प्रति चाहे जैसा अभिप्राय बांध लें। (उससे हमें क्या) (अंगत) *बोल नं. 490*

प्र०–५१९ (आपकी) सब बात सत्य है लेकिन विकल्प टूटता नहीं है?

उ0– विकल्पों से क्यों डरते हो? उसको भी उसीकी सत्ता में रहने दो; और तुम तुम्हारी त्रिकाली सत्ता में रहो। विकल्प को तोड़ने मरोड़ने (के अभिप्राय में) जाओगे तो तुम्हारी ध्रुव सत्ता का नाश होगा और फिर भी ये विकल्प तो टूटेंगे नहीं। *बोल नं. 491*



प्र०–५२० पूर्व में हमें अनंत बार ग्यारह अंगों का ज्ञान हुआ परंतु सच्चा सुख क्यों नहीं मिला?

उ0– ''सागरों तक ग्यारह अंग का अभ्यास करते हैं लेकिन परलक्षी ज्ञान से तो नुकसान ही नुकसान है। जो उपयोग बाहर में जाये तो दुःख होवे ही; स्व उपयोग में ही सुख है। *बोल नं. 492*

प्र०–५२१ पर्याय के कर्त्तापने की सूक्ष्म भ्रांति क्या है?

उ0– पर्याय को स्वसन्मुख करूँ, अंतर में वालुं, अंतर में ढालूँ इस इस प्रकार की सूक्ष्म भ्रांति जीव को रह जाती है। पर्याय का मुख (दिशा) पलटना है, इस अपेक्षा से यह बात सच है; लेकिन ध्रुव पर बैठते ही वह सहज (स्वसन्मुख) होती है। *बोल नं. 493*

प्र०–५२२ परिणामों की सम्हाल तो करनी चाहिए न?

उ0– कैसे भी परिणाम हों, लेकिन अपन (सम्हाले के नाम पर) उनके गुलाम क्यों (बनें)? *बोल नं. 494*

प्र०–५२३ आत्मार्थी को स्वच्छंदता का भय और परिणामों का विवेक तो होना चाहिए?

उ0– स्वच्छंदता से डरो मत; अभी तक स्वच्छंदता ही तो चली आयी है। अब तो 'सहज स्वच्छन्द दशा' (स्वरूप मग्नता को) प्रगट करो। विवेक अपने आप आ जायेगा। *बोल नं. 495*

प्र०–५२४ ध्रुव तत्त्व का महात्म्य विशेष है कि ध्रुव को पकड़ने वाली पर्याय का?

उ0– अपनी–अपनी अपेक्षासे दोनों का महात्म्य है। असल में तो 'ध्रुवतत्त्व' का ही महात्म्य है। पर्याय का महात्म्य आने से तो जीव पर्याय में बैठ जाता है। *बोल नं. 496*

प्र०–५२५ 'हम भव्य है या अभव्य'? यह बताने की कृपा करें।

उ0– अरे भाई! भव्य अभव्य दोनों 'अपन' नहीं; अपन तो 'ध्रुवतत्त्व' है जिसमें इन दोनों का अभाव है। *बोल नं. 496*

प्र०–५२६ हमें रुचि तो बहुत है परंतु प्रतिकूल संयोग होने से एवं विकल्प होने से कार्य नहीं होता क्या यह सत्य है?

उ0– रुचि अपने कार्य में बाधा नहीं आने देती है; वह संयोग को और विकल्पों को नहीं गिनती। (स्वरूप की) रुचि हो तो हर समय यही का यही चिंतन चलता रहे। *बोल नं. 497*

प्र०–५२७ आपकी परिवारके प्रति कैसी परिणति वर्तती है?

उ0– दूसरों को लगे कि मैं देख रहा हूँ; लेकिन कोई (घर में) चोरी कर जाये तो भी मुझे मालूम न पड़े। मेरे कपड़े कितने है? घर में चीज वस्तु है या नहीं;–मुझे कुछ मालूम नहीं रहता। (अंगत) *अ. बोल नं. 497*

प्र०–५२८ क्या बाह्य प्रवृत्ति रुचि में बाधक हो सकती है?

उ0– रुचि हो तो (बाह्य) प्रवृत्ति में भी अपने कार्य में विघ्न नहीं आता। दूसरों से तो कुछ लेना नहीं है; और (स्वयं) सुख का धाम है। उपयोग रहित चक्षु की माफक, प्रवृत्ति में दिखाई तो दे परंतु उपयोग तो इधर काम करता रहे। *बोल नं. 498*

प्र०–५२९ ज्ञानी कभी–कभी भक्ति में उल्लसित दिखते तो हैं न?

उ0– (ज्ञानी को) भक्ति आदि के शुभ भाव आवे तब बाहर में तो उल्लसित दिखाई देवे, लेकिन उसी क्षण अभिप्राय में निषेध वर्तता है। *बोल नं. 499*



प्र०–५३० (हमें) अशुभ में तो दुःख लगता है लेकिन शुभ में दुःख नहीं लगता है क्या करें?

उ0– शुभ को ठीक माना है; इसलिए दुःख नहीं लगता। पहले अशुभ में ठीक माना था तो वहाँ दुःख नहीं लगता था। इधर (ज्ञायक में) आवे तो इधर के सुख के अनुभव में शुभाशुभ दोनों ही दुःख रूप दिखते हैं। जैसे मक्खी फटकरी पर बैठते ही फट–से उड़ जाती है, किन्तु शक्कर पर बैठी हो तो भले ही पंख टूट जायें, तो भी उड़ना नहीं चाहती। ऐसे यहाँ भी समझ लेना। *बोल नं. 500*

प्र०–५३१ हमें आपके पास आने का भाव बारम्बार क्यों आता है?

उ0– जिसको अपना सुख चाहिए, उसे अपना सुख जिनको प्रगटा है उनके पास जाने का भाव आता है। *बोल नं. 501*

प्र०–५३२ अंतर की बातों का शास्त्रों से मिलान करना चाहिए या शास्त्रों की बातों को देख कर अंतर का मिलान करना चाहिये?

उ0– शास्त्र इधर से (अंतर से) निकलते है तो इधर से निकली सब बातें शास्त्रों में मिल जाती है। शास्त्र देखकर इधर का मिलान नहीं करना है; किन्तु इधर से निकली बातों का शास्त्रों से मिलान कर लेना। *बोल नं. 502*

प्र०–५३३ निर्विकल्पता से भी बड़ा कौन है?

उ0– निर्विकल्पता पर वजन नहीं देना यह मुझ (ध्रुव) से बडी थोड़े ही है। *बोल नं. 503*

प्र०–५३४ संख्या अपेक्षा संसारी जीव अधिक होने पर भी सिद्धों की अधिक महिमा आगम में क्यों आती?

उ0– सिद्ध जीवों से संसारी अनंत गुने हैं। फिर भी सिद्ध जीव

(छ माह आठ समय में ६०८) संसारीजीवों को अपनी ओर खींचते हैं। (लेकिन) संसारी जीव (एक भी) सिद्ध जीव को अपनी ओर नहीं खींच सकते। इससे ही सिद्ध जीवों की विजय सिद्ध हो गई। *बोल नं. 504*

प्र०–५३५ पुरुषार्थ का सच्चा स्वरूप क्या ?

उ0– पुरुषार्थ धाम (ज्ञायक) में पुरुषार्थ (रुचि एवं उपयोग) जम गया, वही पुरुषार्थ है। *बोल नं. 505*

प्र०–५३६ आत्मा तो दिखता नहीं, तो प्रत्यक्ष कैसे होवे ?

उ0– (ज्ञान) परिणाम तो दिखता है न! तो परिणाम जिसमें से आता है–उस चीज का पहले अनुमान किया जाता है फिर (वेदन से) प्रत्यक्ष करता (होता है) *बोल नं. 506*

प्र०–५३७ हमें अपने में बहुत कमी लगती है क्या करें ?

उ0– (तुम्हें) इसकी जरूरत है न, उसकी जरूरत है न? अरे भैया! मैं पहले से अजरूरियात वाला (पूर्ण) हूँ यह तो निर्णय करो। *बोल नं. 507*

प्र०–५३८ अपनी शोध हेतु क्या निश्चय करें ?

उ0– (अपनी) पर्याय तक ही अपना कार्य सीमित है; पर पदार्थ से तो कुछ संबंध है ही नहीं—ऐसा निश्चय हो गया फिर तो अपने में ही शोध चालू होगी। *बोल नं. 508*

प्र०–५३९ आपकी दृष्टि में पूज्य गुरुदेवश्री की इस क्षेत्र एवं इस काल में क्या देन है ?

उ0– महाराजसाहब ने दुष्काल में सुकाल कर दिया है–यह क्या कम महत्व की बात है ? इस काल में जहाँ ऐसी बात सुनने को नहीं मिलती, वहाँ (तत्त्व की) मूसलाधार वर्षा कर दी है। *बोल नं. 509*



प्र०–५४० हमें सम्यग्दर्शन हुआ या नहीं यह कैसे मालूम होवे ?

उ0– यह प्रश्न ही बतलाता है कि तुम्हें सम्यग्दर्शन नहीं हुआ तभी ऐसी शंका होती है। अन्य (जीव) मानें तो सम्यग्दर्शन है ऐसा नहीं है। *बोल नं. 510*

प्र०–५४१ अपने को किस रूप से विचारें कि अपने में अहंपना आये ?

उ0– 'मैं कृत्य कृत्य चैतन्यधाम हूँ' विकार ने मुझे छुआ ही नहीं, मैं ध्रुव धाम हूँ ऐसा (विचार कर) अपने में अहंपना आना चाहिए। *बोल नं. 511*

प्र०–५४२ क्या मुझे मुक्ति हेतु कुछ करना या कुछ लाना नहीं ?

उ0– मेरा स्वभाव ज्ञान दर्शनादिसे लबालब भरा हुआ है, इसमें नया कुछ करना नहीं है, कुछ (बाहर से लाकर) बढ़ाना भी नहीं है। *बोल नं. 512*

प्र०–५४३ आपने बहुत बड़ा कार्य किया है अतः आपका मुमुक्षु समाज पर तो बहुत उपकार है ?

उ0– पूज्य गुरुदेवश्री ने उपदेश द्वारा बताया सो ही कार्य मैंने किया है। जगत में मुझे मान या यश मिले वह मुझे पसंद नहीं है (सारा उपकार गुरुदेवश्री का है)। *बोल नं. 513*

प्र०–५४४ परिणामों की सम्हाल तो करनी चाहिए न ?

उ0– परिणामों के चक्र में (सम्हाल ने हेतु) माथा दिया तो हंमेशा माथा (उपयोग) फूटता (बिगड़ता) रहेगा। *बोल नं. 514*

प्र०–५४५ क्या करें कि शांति मिले ?

उ0– (संसार से) थक गये हो तो (स्वरूप में) बैठ जाओ, (शांति मिल जायेगी) नहीं थके हो तो चलते रहो। *बोल नं. 515*

प्र०–५४६ द्रव्य बंधा है कि द्रव्य मुक्त है ?

उ०– बंध तथा मुक्ति में भेद नहीं है (क्योंकि दोनों पर्यायें है)। द्रव्य को मुक्त कहना (भी) कलंक है। तत्त्वरसिकजन, आसन्न भव्य विज्ञानघन के रसीले पुरुष (अपने में) बंधमोक्ष का भेद नहीं देखते। (बंध मोक्ष है कल्पना....श्रीमद्‌जी) *बोल नं. 516*

प्र०–५४७ पहले अशुभ से हटकर शुभ में तो आना होगा न ?

उ०– एक शुभ है एक अशुभ है—दोनों जगहों से हटकर तीसरी (शुभाशुभ रहित) जगह (शुद्ध ध्रुव में) आ जाओ। *बोल नं. 517*

प्र०–५४८ व्यवहार को अभूतार्थ कहने का मूल आशय क्या ?

उ०– व्यवहार को अभूतार्थ कहा गया है जिसका सार यह है कि 'परिणाम मात्र' 'अभूतार्थ' है। *बोल नं. 518*

प्र०–५४९ परमार्थ से ज्ञानी एवं अज्ञानी की क्या पहचान है ?

उ०– अज्ञानी, उत्पाद–व्यय के साथ चला जाता है। ज्ञानी ने नित्य में अपना अस्तित्व स्थापित किया है, जिससे वह उत्पाद व्यय के साथ चला नहीं जाता (उस रूप स्वयं को नहीं मानता) [उन्हें] जान लेता है। *बोल नं. 519*

प्र०–५५० आगम में आता है कि शुद्धपर्याय में द्रव्य व्यापक है उसकी क्या अपेक्षा है ?

उ०– शुद्धपर्याय के साथ व्याप्य व्यापक संबंध पूरे (प्रमाणरूप) द्रव्य का क्षेत्र की अपेक्षा से है। *बोल नं. 520*

प्र०–५५१ सम्यग्ज्ञान हेतु क्या क्या चाहिए ?

उ०– पहले तो धारणा बराबर होना चाहिए; लेकिन धारणा अंतर में उतरे तभी सम्यग्दर्शन होता है। धारणा में भी लक्ष्य तो इधर (अभेद) का होना चाहिए। *बोल नं. 521*



प्र०–५५२ क्या परिणाम बिगड़ने से द्रव्य में बिगाड़, सुधरने से द्रव्य में सुधार होता है ?

उ०– पर्याय में तीव्र से तीव्र अशुभ परिणाम हो व उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुद्धपरिणाम हों 'मेरा' कुछ भी बिगाड़ सुधार नहीं। मैं तो वैसा का वैसा ही (ज्ञान सुखमयी शुद्ध अपरिणामी) हूँ। *बोल नं. 522*

प्र०–५५३ हम पहले सब सुन लें जान लें फिर पुरुषार्थ कर सकेंगे न ?

उ०– मैं पहले तो सब जान लूँ, सुन लूँ, पीछे पुरुषार्थ करूँगा, तो पीछेवाला सदा पीछे ही रहेगा। वर्तमान इसी क्षण से ही पुरुषार्थ करने की यह बात है–(यहाँ तो) पहले अपने आत्मा की प्रभावना [अपने ज्ञान में विशेष भासना (अनुभव)] करने की बात है। *बोल नं. 523*

प्र०–५५४ प्रमाण–ज्ञान का जन्म कब होता है ?

उ०– अपने द्रव्य में दृष्टि का तादात्म्य होते ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है ऐसा प्रमाण हुआ ज्ञान सभी बातें (यथार्थ) जान लेता है। *बोल नं. 524*

प्र०–५५५ आत्मज्ञान बिना करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान हितकारी है क्या ?

उ०– करोड़ों शास्त्र पढ़ो तो भी (वह तो) मात्र मन को बोझा है, आँमला (गुबार / भड़ास) है, भार है। (हितकारी नहीं) *बोल नं. 525*

प्र०–५५६ तत्त्वविचारादि में उल्लास तो योग्य है ?

उ०– उल्लास में (उलसित परिणतिमें) उल्लास (सर्वस्वपना) आ जावे वह योग्य नहीं। *बोल नं. 526*

प्र०–५५७ परिणामों में मर्यादा तो आना चाहिए न ?

उ०– परिणामों की मर्यादा देखते रहने से अपरिणामी का जोर छूट जाता है। *बोल नं. 527*

प्र०–५५८ स्वयं का घूंटन पर्याय में चलना चाहिये न ?

उ0– पर्याय में बैठकर घूँटन करने से पर्याय में ठीकपना रहता है; ऐसे कृत्रिम प्रयास का अभिप्राय छोड़ो। *बोल नं. 528*

प्र०–५५९ हमें सुखी होने का संक्षिप्त मार्ग बताने की कृपा करे ?

उ0– असल में बात इतनी सी है कि इधर (त्रिकाली) में जम जाना चाहिए त्रिकाली अस्तित्व में प्रसर जाना चाहिए। *बोल नं. 529*

प्र०–५६० आत्मार्थी का पढ़ना सुनना चर्चा करना आदि भी तो कर्तव्य है न ?

उ0– सुनना पढ़ना चर्चा करना–यह सभी ऊपर ऊपर की बातें है असल में तो अंदर में जम जाना चाहिए स्वरूप में ऊँडे (गहरे) उतर जाना चाहिए। *बोल नं. 530*

प्र०–५६१ प्रथमवार आत्मधर्म पढ़कर आप किस बात से अति प्रभावित हुए थे ?

उ0– षट् आवश्यक आदि क्या ? 'एक ही आवश्यक है' यह बात 'आत्मधर्म' में पढ़कर ऐसी चोट लगी कि बस ! यही ठीक है। *बोल नं. 531*

प्र०–५६२ सभी को अनुभव का एक ही उपाय है क्या ?

उ0– मैं परिणाम मात्र नहीं हूँ; त्रिकाली ध्रुव में अपनापन स्थापना–यही एक उपाय है। *बोल नं. 532*

प्र०–५६३ संक्षेप में जिनागम का सार बताने की कृपा करें ?

उ0– एक ही मास्टर की (Master Key) है सब बातों का, सब शास्त्रों का एक ही सार है—त्रिकाली स्वभाव में अपनापन जोड़ देना है। *बोल नं 533*



प्र०–५६४ तत्त्वों का विचार तो करते फिर भी अनुभव क्यों नहीं होता ?

उ0– विचारादि तो पर्याय का स्वभाव होने से चलता ही रहता है परंतु जो ध्येय (अपनापन) स्वभाव की ओर रहे तो परिणति (अंतर में) ढल जाती है। *बोल नं. 534*

प्र०–५६५ इतना पुरुषार्थ करने पर भी अटक क्यों जाते है ?

उ0– इस (त्रिकाली ध्रुव) का बल आये बिना दूसरी जगह अटकेगा ही। *बोल नं. 535*

प्र०–५६७ क्या हमें पूज्य गुरुदेवश्री की सच्ची पहचान नहीं ?

उ0– निश्चय महाराज जी (निज त्रिकाली) को नहीं जाना तो इन महाराजश्री को भी विपरीत ही जाना। *बोल नं. 536*

प्र०–५६८ परिणाम कैसे लगें कि जिससे उनका रस छूट सके ?

उ0– परिणाम (–प्रति) के रस को यमका दूत जानों (तभी परिणाम का रस छूटेगा)। *बोल नं. 537*

प्र०–५६९ हित की दो बातें कहें न ?

उ0– विचार करना–निर्विचार (निर्विकल्प) होने के लिए। (साधर्मी से भी) मिलना–फिर नहीं मिलने के लिए। *बोल नं. 538*

प्र०–५७० आप किस अपेक्षा देव-शास्त्र-गुरु को अनायतन कहते हैं ?

उ0– सच्चे देव–शास्त्र–गुरु भी 'स्वभाव' के (आश्रयकी अपेक्षा) अनायतन है। *बोल नं. 539*

प्र०–५७१ हमें स्वभाव का अवलम्बन तो लेना चाहिए न ?

उ0– परिणाम (मेरा) अवलम्बन लेता है 'मैं' नहीं। *बोल नं. 540*

प्र०–५७२ प्रौढ विवेक का क्या स्वरूप है ?

उ0– प्रौढ विवेक (यह कि) 'मैं' निष्क्रिय चिन्मात्र वस्तु हूँ। *बोल नं. 541*

प्र०–५७३ धर्मके नाम पर जीव कहाँ-कहाँ फस सकता है ?

उ0– कई लोग संसार की दुकानदारी छोड़ शास्त्र की दुकानदारी (पुस्तकें एवं मासिक लिखना, छपाना, याद करना, बाँटना, प्रवचन करना और ट्रस्ट संचालन एवं तत्त्वप्रचार आदि करने) में फँस गये I*बोल नं. 542*

प्र०–५७४ मोक्षमार्ग की शुरुआत एवं पर्याय से भिन्नता का क्या एक ही कारण है ?

उ0– यहाँ तो अनुभूति से ही (मोक्षमार्ग) की शुरुआत होती है (एवं) अनुभव होने पर ही पर्याय से भिन्नता होती है। *बोल नं. 543*

प्र०–५७५ पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रदत्त तत्त्व कब तक टिकेगा ?

उ0– पूज्य गुरुदेवश्री के उपदेशों में इतना खुलासा है कि—उस नींव से धर्म पंचमकाल(के अंत) तक टिकेगा–ऐसा दिखता है। *बोल नं. 544*

प्र०–५७६ कार्य से कारण की पहचान होती है क्या यह सत्य है ?

उ0– कार्य से कारण को देखते हो, इससे तो मुझे ऐसी चोट लगती है कि यह क्या ? ऐसी दृष्टि में तो त्रिकाली से जुदापना (भिन्नपना) ही रहता है तब फिर त्रिकाली में एकता कैसे होगी (अत: सीधे त्रिकाली कारण को देखो) ? *बोल नं. 545*

प्र०–५७७ त्रिकाली में अहंपना कैसे आये?

उ0– वर्तमान पर्याय में तो ''मैं–पना'' स्थापित है और त्रिकाली की ओर जाना चाहते हो !! लेकिन पर्याय में ''मैं–पना'' छूटे बिना त्रिकाली में ''मैं–पना'' कैसे होगा ? *बोल नं. 545*

प्र०–५७८ त्रिकाली के आश्रय में स्वयं कैसा भासित होता है ?

उ0– त्रिकाली में आये बिना सुख होता ही नहीं, तो जो सुख है



उसमें त्रिकाली स्वभाव का आश्रय आ गया। पर्याय बदलती है तो भी ''मैं'' नहीं बदलता ऐसा भासता है। *बोल नं. 456*

प्र०–५७९ पू. गुरुदेवश्री कहते कि 'वर्तमान अंश में' सारी रमत है इसका आशय क्या है ?

उ0– वर्तमान अंश में ही सब रमत (करतब) [बंध-मोक्ष] है–वह अंतर में देखे तो (अनंत) शक्तियाँ दिखेगी; और बर्हिमुख होगा तो संसार दिखेगा। (वर्तमान) अंश से बाहर तो (कोई जीव) जाता ही नहीं है। इतनी मर्यादा में ही रमत (बंध-मोक्ष) है। *बोल नं. 547*

प्र०–५८० निमित्तों से लाभ नहीं कहने पर भी निमित्त से लाभ का अभिप्राय रह सकता है क्या ?

उ0– देव-शास्त्र-गुरु के प्रति जो मचक (विनय) है वह भी नुकसान ही है (किन्तु) उनसे जीव लाभ मान बैठता है। कहता तो है कि 'निमित्त से लाभ नहीं होता' लेकिन अभिप्राय तो लाभ का ही बना रखा है (तभी) तो वहाँ से अपनी ओर आता नहीं। *बोल नं. 548*

प्र०–५८१ हम जिनवाणी पढ़ते सुनते मनन करते....बहुत पुरुषार्थ करते थक जाते परंतु वस्तु नहीं मिलती क्या करें ?

उ0– अज्ञान में जीव, वांचन–श्रवण–मनन आदि का जो पुरुषार्थ करता है उसमें तो थाक (बोझा) लगता है; अतः जिसमें थकान आवे वह पुरुषार्थ ही कहाँ ? सहज पुरुषार्थ (स्वानुभव) में बोझा (थकान) लगती ही नहीं (आनंद आता है)। *बोल नं. 549*

प्र०–५८२ निमित्त भी 'निमित्त' कब कहा जाता है ?

उ0– जैसे कोई वीररस का, कोई रौद्र रस का, कोई काम रस का निमित्त है, वैसे ही देव शास्त्र गुरु शांतरस के निमित्त

हैं, लेकिन अपने में शांतरस जगाये नहीं तो उन पर उपचार भी आता नहीं। (एकत्वविंशति गाथा-२६) *बोल नं. 550*

प्र०–५८३ जिनवाणी सुनने में उल्लास तो आना चाहिये न?

उ0– सुनने में भी एकांत उल्लास नहीं होना चाहिए दीनता लगनी चाहिए, खेद होना चाहिए। *बोल नं. 551*

प्र०–५८४ पर्याय पर की दृष्टि ही तो बदलना है न?

उ0– दृष्टि परिणाम पर रखी है तो (उसका) मुख द्रव्य की ओर बदलना है; यह मुख भी परिणाम ही बदलता है; मेरे में तो, मुख भी कहाँ (है), (जो) बदलना है? मैं तो जहाँ हूँ, वहाँ ही हूँ बदलना फदलना कुछ मेरे में है ही नहीं। *बोल नं. 552*

प्र०–५८५ पर्याय का विवेक तो चाहिए न?

उ0– जैसे करोड़पति भिखारी को अधिकता (महत्त्वता) नहीं देता; उसी प्रकार पर्याय की जितनी मर्यादा है उसको ज्ञान जान (तो) लेता है। पर्याय को (विवेक के नाम पर) अधिकता देने जायेगा तो प्रयोजन ही अन्यथा हो जायेगा। *बोल नं. 553*

प्र०–५८६ बारह अंगो का सार एवं फल बताने की कृपा करें?

उ0– बारह अंग का सार 'निष्क्रिय चैतन्य, ही मैं हूँ'—ऐसा निर्णय करना है।

'मैं तो निष्क्रिय हूँ'; कुछ करना ही नहीं है; मैं कुछ कर सकता ही नहीं, मेरे में कुछ करने की शक्ति ही नहीं, मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ, करना ही क्या है?—ऐसा यथार्थ निर्णय हुआ तो मुक्ति हो गई। *बोल नं. 554*

प्र०–५८७ विकल्प तोड़कर निर्विकल्पता तो करना चाहिए न?



उ0– विकल्प सहज होता है; निर्विकल्पता भी सहज होती है और मैं भी (त्रिकाल) सहज (निष्क्रिय रहता) हूँ। *बोल नं. 555*

प्र०–५८८ आत्मधर्म के किस वाक्य ने आपको निर्भार कर दिया?

उ0– 'आत्म–धर्म' मिला उसमें से यह पढ़ते ही कि 'एक ही आवश्यक है' चोट लगी! –अरे यह आठ द्रव्य से पूजनादि करना, छ आवश्यक–यह तो सभी बोझा लगता है और इसमें (एक आवश्यक स्वरूप दृष्टि में) तो बोझ घट जाता है। *बोल नं. 556*

प्र०–५८९ शास्त्रों में ज्ञान एवं पुरुषार्थ करने को कहा है न?

उ0– शास्त्रों में ज्ञान करने को कहा; तब कितने ही लोग चिंतन में रुक गये, पुरुषार्थ करने को कहा, तो विकल्प में ही रुक गये (वस्तु तो मिली नहीं)। *बोल नं. 557*

प्र०–५९० जैसे बने तैसे जैन धर्म की प्रभावना तो करना चाहिए न?

उ0– पहले अपनी प्रभावना करके.....अपना (अतीन्द्रिय) सुख पीने में मग्न रहो......बाद में जैसा जैसा योग होता है, वैसा वैसा विकल्प (भी) आता रहता है। *बोल नं. 558*

प्र०–५९१ निर्विकल्पता कैसे हो एवं परिणाम ठीक कैसे हों?

उ0– अपने(को) तो निर्विकल्पता भी करनी नहीं है; ध्रुव स्थल में बैठने से निर्विकल्पता भी सहज होती है। पहले अभिप्राय ठीक करना चाहिए, फिर परिणाम भी ठीक होने लगते है। *बोल नं. 559*

प्र०–५९२ क्या 'निष्क्रियभाव' पुरुषार्थ हीनता का सूचक है?

उ0– 'निष्क्रियभाव' कहने से जीवों को पुरुषार्थहीनता लगती है। अरे! भाई वह (निष्क्रियस्वभाव) तो पुरुषार्थ की खान है; और

जो मुक्ति होती है उसकी भी उसे दरकार (अपेक्षा) नहीं है। *बोल नं. 560*

प्र०–५९३ स्वभाव को मजबूत करने की (ही) बात है न?

उ0– स्वभाव तो मजबूत ही है, उसमें बैठ जाओ। *बोल नं. 561*

प्र०–५९४ परिणामों की चिंता से कैसे छूटें?

उ0– आत्मा तो समुद्र (की भाँति) है जैसे समुद्र में लहरें उठतीं हैं और उसीमें ही विलीन हो जाती है, समुद्र को लहरोंकी क्या दरकार? उसी प्रकार यहाँ (भी) परिणाम उठते हैं और समा जाते हैं मुझ समुद्र को इनकी क्या दरकार (अपेक्षा/परवाह/आवश्यकता)? *बोल नं. 562*

प्र०–५९५ कृपया आप अपनी बहिरंग परिणति का थोड़ा परिचय देने की कृपा करें?

उ0– (देखो भाई) उपयोग भगवान की ओर जावे तो भी हम उसे यम का दूत देखते हैं; तो फिर (हमें) अन्य कोई कहे कि मेरे से राग करो–तो वह कैसे बन सकता है?(अंगत) *बोल नं. 563*

प्र०–५९६ नित्य अनित्य में से किसका भरोसा करना ठीक है?

उ0– नित्य वस्तु का ही भरोसा करनेयोग्य ठीक है? *बोल नं. 564*

प्र०–५९७ चारित्र एवं ज्ञान के संबंध में अज्ञानी की क्या भूल चलती रहती है?

उ0– अज्ञानी को ऐसा (लगता) रहता है कि मैं कषाय को मंद करते करते अभाव कर दूँगा; लेकिन इस प्रकार तो कषाय का अभाव होता ही नहीं—स्वभाव के बल बिना कषाय नहीं



टलतीं। ''मैं कषाय को मंद करता जाऊँगा; सहनशक्ति बढ़ाता जाऊँगा तो कषाय का अभाव हो जायेगा; और ज्ञान में जो पर लक्ष्यी उघाड़ है वो ही बढ़ते–बढ़ते केवलज्ञान हो जायेगा ऐसा अज्ञानी मानता है। *बोल नं. 565*

प्र०–५९८ द्रव्य में पर्याय नहीं या दृष्टि के विषय में पर्याय नहीं समझाने की कृपा करें?

उ0– (कितने ही लोग) समझे बिना 'द्रव्य में पर्याय नहीं है....नहीं है–ऐसा ले लेते हैं। लेकिन (द्रव्यमें) 'पर्याय नहीं है ऐसा कौन कहता है!। दृष्टि का विषयभूत–'अपरिणामी' पर्याय से अलग है उसमें पर्याय का अभाव है, उसमें पर्याय नहीं है ऐसा कहना है। *बोल नं. 566*

प्र०–५९९ अपरिणामी एक समय के परिणाम में आवे तो क्या हो?

उ0– 'अपरिणामी' एक समय के परिणाम में आ जावे तो 'अपरिणामी' खत्म हो जायेगा। *बोल नं. 567*

प्र०–६०० क्या वेदना समुद्घात भी अनुभूति में निमित्त हो सकती है।

उ0– वेदना समुद्घात में जीव के प्रदेश शरीर से बाहर निकल जाते, और शरीर के बाहर का वेदन आता है तो कोई जीव इस पर से भी शरीर से भिन्नपने के विचार में उतरकर काम कर सकता है। *बोल नं. 568*

प्र०–६०१ पर्याय अपेक्षा कहाँ अहं करना जीव का स्वरूप है?

उ0– ''परिणाम में से अहंपना हटना और त्रिकाली स्वभाव में अहम्पना करना वह शुद्धजीव का (पर्यायगत) स्वरूप है। *बोल नं. 569*

प्र०–६०२ सविकल्पज्ञान एवं सहजज्ञान में क्या फर्क होता है ?

उ0– स्वाध्याय आदि का विकल्पवाला ज्ञान है सो तो आकुलता के साथ अभेद है; और सहजज्ञान त्रिकाली स्वभाव के साथ अभेद है। *बोल नं. 570*

प्र०–६०३ अंगों एवं पूर्वों में आचार्यों को क्या दिखाना है ?

उ0– मैं त्रिकाली तत्त्व हूँ, इसमें अहंपना करना, वही बारह अंग–चौदह पूर्व में कहना है। *बोल नं. 571*

प्र०–६०४ सिद्धभगवान क्यों खिसकते नहीं ?

उ0– सिद्धभगवान खिसकते ही नहीं इसका अर्थ ही ऐसा है कि वे परिपूर्ण तृप्त तृप्त हो गये हैं, इसलिए खिसकते ही नहीं हैं। *बोल नं 572*

प्र०–६०५ हमें वस्तु को धारणा में लेना न्याययुक्ति लगाना सरल लगता है एवं अनुभव कठिन लगता है ?

उ0– अनुभव होना तो आसान है। लेकिन विशेष उघाड़शक्ति होना और न्याय आदि (निकालना) श्रमवाला है। अपने को तो गुरुदेवश्रीने (आगम-न्याय–युक्ति–तर्क अनुभव की विधि एवं विषय) सब दिया है। *बोल नं. 573*

प्र०–६०६ ज्ञानियों को विकल्प कैसे लगते है ?

उ0– सम्यग्दृष्टि को एक विकल्प(में) भी फाँसी सा (दुःख) लगता है। विकसित स्वभाव को (विकल्प) फांसी सा (प्रतीत होता) लगता है। *बोल नं. 574*

प्र०–६०७ क्या ज्ञान करने में भी कर्तृत्व बुद्धि हो सकती है ?

उ0– (अरे !) केवलज्ञान भी करना नहीं, हो जाता है, फिर क्षयोपशम ऐसा करूँ–ऐसा करूँ वह तो कर्तृत्वबुद्धि ही है। *बोल नं. 575*



प्र०–६०८ इतनी ऊँची बात हमारे महाभाग्य से सुनने को मिल रही है, क्या यह कम है ?

उ0– ऐसी बात सुनने को मिल जाने से (इस जीव को) संतोष हो जाता है कि दूसरे लोगों को ऐसी बात नहीं मिली अपनेको तो मिली है न! ऐसी अधिकता (भाग्यशालीपना) मानकर जीव संतुष्ट हो (कर वहीं रूक) जाता है। *बोल नं. 576*

प्र०–६०९ केवलज्ञान के पर प्रकाशकरूप धर्म की सामर्थ्य कितनी है ?

उ0– तीन लोक के सर्व पदार्थ ज्ञान में आ जायें तो भी ज्ञान सभी को पी जाता है और कहता है कि अव और कुछ बाकी हो तो आ जाओ ? *बोल नं. 577*

प्र०–६१० मेरे सत्पने की अपेक्षा क्या सारा जगत असत् है ?

उ0– सारे जगत में बस ! मैं एक ही (सत्) वस्तु हूँ और कोई वस्तु (मेरे सत्रूप) है ही नहीं। अरे ! दूसरी कोई वस्तु है या नहीं, ऐसा विकल्प भी क्यों (करना) ? *बोल नं. 578*

प्र०–६११ राग ज्ञेय है यह कहने का अधिकार किसको है ?

उ0– (राग को) ज्ञान का ज्ञेय....ज्ञान का ज्ञेय कहते हैं और लक्ष्य राग की ओर है तो वह सच्चा ज्ञान का ज्ञेय है ही नहीं। (वास्तव में राग) ज्ञान का ज्ञेय तो अंदर (का लक्ष्य होने) में सहजरूप हो जाता है।

लक्ष्य बाहर पड़ा हो और (रागको) ''ज्ञान का ज्ञेय बोले तो मुझे तो खटकता है। वैसे ही 'योग्यता' 'क्रमबद्ध' आदि सभी में लक्ष्य बाहर पड़ा हो और वैसा कहें तो मुझे खटकता है। (लक्ष्य = कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता बुद्धि) *बोल नं. 579*

प्र०–६१२ किसका लक्ष्य करने से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है ? एवं किसका लक्ष्य छोड़ें ?

उ0– अपरिणामी अर्थात् द्रव्य में पर्याय सर्वथा नहीं है, ऐसा नहीं है। लेकिन पलटनशील–परिणमन स्वभावी पर्याय को गौण करके, ''मैं वर्तमान में पूर्ण हूँ, अभेद हूँ—ऐसा ध्रुव द्रव्य और ध्रुवपर्याय (कारणशुद्धपर्याय) को लक्षगत करने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

द्रव्य पलटता नहीं पर्याय पलटती रहती है। यदि द्रव्य परिणमन को प्राप्त हो जाये, तो पलटते हुए द्रव्य के आश्रय से स्थिरता हो नहीं सकती, और स्थिरता बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए जो पलटती ही रहती है उसका लक्ष्य छोड; और ध्रुव अपरिणामी चैतन्यतत्त्व जो एक ही सारभूत है, उसका लक्ष्य कर। *बोल नं. 580*

प्र०–६१३ अज्ञानी पर्याय का लक्ष्य क्यों नहीं छोड़ना चाहता ?

उ0– अहो ! मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण ध्रुव–अपरिणामी तत्त्व हूँ। यह बात जगत के जीवों को नहीं जँचती है। और प्रमाण के लोभ में–आत्मा को यदि अपरिणामी मानेंगे तो प्रमाण ज्ञान नहीं होगा और एकांत हो जायेगा, ऐसी आड़ लगाकर–पर्याय का लक्ष्य नहीं छोड़ना चाहते हैं। इस ही कारण से वे अपरिणामी चैतन्यतत्त्व को प्राप्त नहीं होते है।

पर्याय परिणमती है, उसका परिणाम होने दें। उसके सन्मुख मत देखो। मगर उसी समय 'तूं' परिपूर्ण अपरिणामी ध्रुव तत्त्व है उसे देख। *बोल नं. 580*

प्र०–६१४ शास्त्रों में तो आत्मा को भेदाभेद स्वरूप कहा है एवं आप तो आत्मा को अभेद ही कहते हो, इसमें आपका प्रयोजन क्या है ?

उ0– प्रमाणज्ञान की अपेक्षा से आत्मा को भेदाभेद रूप कहने में आता है। लेकिन वास्तव में सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा तो अभेद ही है, क्योंकि सम्यग्दर्शन का विषय भेद नहीं है, इसलिए भेदाभेद के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती, मात्र अभेदके लक्ष्यसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है यही आशय है। *बोल नं. 581*

प्र०–६१५ आप 'सहज उद्यम' को पुरुषार्थ कहते है, इसमें हम कुछ समझे नहीं ?

उ0– मैं तो अनादि अनंत अपने स्वरूप में स्थित हूँ, निर्विकल्प हूँ जो सुखरूप है (यह स्वीकृति और अनुभव सहज उद्यम है) कृत्रिम उद्यम तो विकल्पवाला खोटा पुरुषार्थ है, दुःखरूप है। पुरुषार्थ की व्याख्या–'सहज उद्यम।' *बोल नं. 582*

प्र०–६१६ परिणाम का स्वरूप एवं पर्याय दृष्टि का फल बताने की कृपा करें ?

उ0– परिणाम उत्पाद व्यय स्वरूप है, 'मैं तो अपरिणामी हूँ' जिसमें उत्पाद व्यय नहीं है; निगोद से लेकर सिद्धतक वैसा का वैसा ही हूँ। परिणाम में प्रसरने (अहं करने) से परिणाम जितना (क्षणिक) हो जायेगा (लगेगा)। परिणाम मात्र व्यवहार है। परिणाम की दृष्टि से दीनता आती है। पर्याय में रुकने से एकांत दुःख होता है। *बोल नं. 583*

प्र०–६१७ पुरुषार्थ द्वारा अपने परिणामों को तो बदल सकते कि नहीं ?

उ0– प्रत्येक परिणाम सत् है, उसमें फेरफार करने का विकल्प झूठा है, ध्रुव सदा ध्रुव रूप ही है, वह उत्पाद व्यय को कैसे करे ? *बोल नं. 584*

प्र०–६१८ तत्त्वचिंतन के विकल्पात्मक परिणाम आप करते तो होंगे न ?

उ0– मैं तो विकल्प मात्र और परिणाम मात्र से रहित हूँ (मैं ध्रुव अपरिणामी होन से विकल्प कैसे करूँ) । *बोल नं. 585*

प्र०–६१९ विकल्पात्मक परिणाम के कर्त्ता आप कैसे नहीं, समझाने की कृपा करें ?

उ0– 'मेरा अस्तित्व परिणाम और विकल्प में नहीं है। मैं तो वर्तमान में ही त्रिकाली अपरिणामी हूँ। मेरे में (विकल्प के) कर्त्तापने का स्वभाव हो तो मुक्ति कभी नहीं हो सकती। *बोल नं. 586*

प्र०–६२० मुक्ति हेतु आपको कुछ तो करना चाहिए अन्यथा संसार का दु:ख कैसे मिटेगा?

उ0– ''मैं'' नित्य सादृश्य हूँ, जिसमें कुछ करनेका या फेरफार करने का नहीं है। नित्य वस्तु को ध्येय बनाने से 'मेरे' में (सांसारिक) सुख–दु:ख (ही) नहीं है; हर्ष शोक तो पर्याय दृष्टि में है (इस अनुभूति का नाम ही मुक्ति है)। *बोल नं. 587*

प्र०–६२१ पर्याय के एकत्व से क्या हानि है ?

उ0– पर्याय विनश्वर है; इसमें एकत्व करने से स्वयं विनश्वर (लगता है) होता है। *बोल नं. 588*

प्र०–६२२ बंध मोक्ष पर्याय हममें नहीं यह किन मुनिराज ने कहा ?

उ0– श्री योगीन्दुदेव मुनिराज कहते हैं कि उत्पाद-व्यय, बंध–मोक्ष पर्याय में है मेरे में नहीं (ज्ञानी ऐसा ही अनुभवते) । *बोल नं. 588*

(परमात्मप्रकाश प्रथम अध्याय ६८ गाथा)

प्र०–६२३ आत्मा के त्रिकाली स्वभाव को समझाने की कृपा करें।

उ0– (जैसे) दर्पण में समय समय पर आकार बदलता रहता है, तो भी दर्पण का दल ज्यों का त्यों रहता है। ऐसे ही



(त्रिकाली) 'स्वभाव' दर्पण के दल जैसा है; वह स्वयं के साथ तादात्म्य है आकार के साथ नहीं, त्रिकाली में वर्तमान परिणाम का अभाव है। *बोल नं. 589*

प्र०–६२४ अभिप्राय कैसा बने, जिससे मुक्ति हो?

उ0– (जीव) मुक्ति चाहता है; लेकिन उसके अभिप्राय में (पर और पर्याय का) कर्त्ता पना पड़ा हो तो (उसकी) मुक्ति कैसे हो ? मैं पूर्ण हूँ; ऐसा निश्चय होने पर, कर्तापना नहीं रहता। *बोल नं. 590*

प्र०–६२५ पर्याय में सावधानी (सत्त चिंता) रहने में क्या हानि है ?

उ0– स्वभाव सावधानस्वरूप (जागृतस्वरूप) है पर्याय में सावधानी (जागृति) होने पर स्वभाव पकड़ में नहीं आता। *बोल नं. 591*

प्र०–६२६ हमारा प्रयोजन कैसा होना चाहिए ?

उ0– (पर्याय अपेक्षा) प्रयोजन सुख का होना चाहिए, ज्ञान (बढ़ाने) का नहीं। (इस हेतु, यह अनुभव करें) मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ। *बोल नं. 592*

प्र०–६२७ हमारा अभिप्राय कैसा होना चाहिए ?

उ0– सारा जगत ज्ञान का ज्ञेय है; अनुकूलता प्रतिकूलता कुछ नहीं है इस अभिप्राय में दृष्टि अभेद होना चाहिए। दृष्टि में मचक नहीं आनी चाहिए। अभिप्राय में पर से लाभ नुकसान की मान्यता क्यों? अभिप्राय में इच्छा व दीनता नहीं होनी चाहिए। *बोल नं. 593*

प्र०–६२८ वर्तमान में द्रव्य और पर्याय संबंधी कैसा निर्णय हो ?

उ0– मैं त्रिकाली अपरिणामी हूँ; परिणाम मात्र गौण है, वर्तमान में ही ऐसा निश्चय होना चाहिए। ध्रुव स्वभाव सदा प्रसिद्ध

है; उत्पाद-व्यय के काल में भी जुदा प्रगट है, दृष्टि प्रति समय पर्याय को गौण करती है। *बोल नं. 594*

प्र०–६२९ प्रमाणज्ञान का प्रयोजन क्या, एवं मेरा कर्तव्य क्या है?

उ0– प्रमाणज्ञान का प्रयोजन तो निश्चय को प्रकाशित करना है। एवं कर्तव्य पर्याय में है, परमार्थ से (मेरा) कोई कर्तव्य नहीं। *बोल नं. 595*

प्र०–६३० अपनी निष्क्रियता को उदाहरण देकर समझाने की कृपा करें?

उ0– मैं तो प्रतिमा समान अपरिणामी हूँ। (मैं) मेरे में पालथी मार कर हैठ जाता हूँ। दर्पण के दल की तरह निष्क्रिय हूँ। परिणाम जो होने लायक है, सो होता है, 'मैं तो पर्याय निरपेक्ष द्रव्य हूँ–यही (मेरी) निष्क्रियता है। *बोल नं. 596*

प्र०–६३१ पर्याय में उपयोग क्यों नहीं रोकना?

उ0– पर्याय को उसके स्वकाल में रहने दो, वह उस काल का सत् है, (सुधारने के नाम पर) उसमें उपयोग मत रोकना। *बोल नं. 597*

प्र०–६३२ पर्याय द्रव्य का आलिंगन करती है या नहीं?

उ0– द्रव्य पर्याय का आलिंगन नहीं करता, पर्याय द्रव्य का आलिंगन नहीं करती; कथंचित् (निर्विकल्पता में) व्यवहार से आलिंगन करती (भी) है। *बोल नं. 598*

प्र०–६३३ आत्मद्रव्य सर्वोत्कृष्ट होने पर भी क्यों नहीं दिखता?

उ0– जैसे तिनके की आड़ में डुंगर (पहाड़) नहीं दिखता है, वैसे ही दृष्टि परिणाम पर रुकने से परिणामी ढक जाता है (अतः) हर समय द्रव्य स्वभाव की अधिकता रहनी चाहिए। *बोल नं. 599*

प्र०–६३४ अध्यात्म दृष्टि से चारों अनुयोगों को संक्षेप में घटित करने की कृपा करें?

उ0– करणानुयोग :—विकार और विकार के फल।
द्रव्यानुयोग :—स्वभाव और स्वभाव का फल।
चरणानुयोग :—चारित्र की स्थिरता (अस्थिरता)।
कथानुयोग :—उक्त सभी की कथा। *बोल नं. 600*

प्र०–६३५ सहजज्ञान एवं सहज पुरुषार्थ कब आता है?

उ0– मैं निष्क्रिय त्रिकाली हूँ—इस चश्मे (दृष्टि) को लगाकर देखने से सभी गुण अपना काम करते हैं, इसमें सहज ज्ञान और सहज पुरुषार्थ आ जाता है। *बोल नं. 601*

प्र०–६३६ साधक एवं बाधक तत्त्वों को समझाये?

उ0– (बाह्य में) साधक बाधक कोई नहीं है यह चश्मा (दृष्टि) लगाने से अर्थात् ध्रुव की मुख्यता में सब यथार्थ दिखता है। साधक (भाव) बाधकभाव (सब) पर्याय में है, मैं तो ध्रुव हूँ। (न कोई मुझे साधक है न बाधक) *बोल नं. 601*

प्र०–६३७ किस किस भूल में सत्यमार्ग दिखाई नहीं देता है?

उ0– निश्चयाभास होने का भय और प्रमाणज्ञान का लोभ रहने से सत्यमार्ग दिखाई नहीं देता है। *बोल नं. 602*

प्र०–६३८ मुख्य गौण कहाँ लगाना चाहिए?

उ0– क्षायक (आदि) भाव व्यक्त हैं उसको गौण करना; और त्रिकालीभाव अव्यक्त है, उसको मुख्य करना है। *बोल नं. 603*

प्र०–६३९ सुख कब प्रगटता है?

उ0– यथार्थ निश्चय (के विषयभूत वस्तु के आश्रय) में सुख प्रगट होता है। *बोल नं. 604*

प्र०–६४० दो द्रव्य की भांति ही त्रिकाली एवं क्षणिक सत्ता में कर्त्ता कर्म पने का अभाव है क्या?

उ0– जैसे एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ नहीं करता है, वैसे एक सत् अन्य सत् का कुछ नहीं करता। त्रिकाली सत् क्षणिक सत् को नहीं करता। क्षणिक सत् त्रिकाली सत् का (में)कुछ नहीं करता। (अध्यात्म अपेक्षा यही वस्तुस्वरूप है) *बोल नं. 605*

प्र०–६४१ त्रिकाली विकारी नहीं परंतु अविकारी तो है न?

उ0– त्रिकाली में विकार–अविकार कुछ नहीं है। *बोल नं. 606*

प्र०–६४२ किस अपेक्षा द्रव्य को पर्याय का कर्त्ता कहा जा सकता है?

उ0– प्रमाण (अपेक्षा) से द्रव्य पर्याय का कर्त्ता है। निश्चय से द्रव्य पर्याय का कर्त्ता नहीं। (पर्याय अपने षट्कारक से होती है) *बोल नं. 607*

प्र०–६४३ आपको अभी वर्तमान स्थिति में तो कुछ करना होगा न?

उ0– 'वर्तमान में ही अक्रिय अपरिणामी हूँ' अर्थात् कोई क्रिया करने का अभिप्राय नहीं है। 'कुछ करूँ.....करूँ' में (तो) स्वयं परिणमन करते, (हुए) परिणाम को करने करने का अभिप्राय रहता है। (जो मिथ्या है)। *बोल नं. 608*

प्र०–६४४ अब कर्त्तापने का अभिप्राय कैसे मिटे?

उ0– निरावलम्बी तत्त्व में बैठ जाना है। 'वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ' तो फिर करना क्या? ज्ञान (तो) करना? वो तो सहज ही (हो रहा) है; उसका भी बोझा उठाने की जरूरत नहीं है। *बोल नं. 609*

प्र०–६४५ क्या सभी विकल्प एक जाति के है?

उ0– विकल्प स्व का या पर का, उनकी जात एक ही है (वह)



क्षणिक है। मैं त्रिकाली निर्विकल्प हूँ, मेरे में विकल्प की नास्ति है। *बोल नं. 610*

प्र०–६४६ संक्षिप्त एवं अति महत्त्वपूर्ण शिक्षा देने की कृपा करे?

उ0– ज्ञान बढ़ाने की व कषाय घटाने की जरूरत नहीं है; यों तो केवलज्ञान प्रगट करने की भी जरूरत नहीं है। परिणाम पर न खेंचावो (कर्त्ता–भोक्ता एवं ज्ञाता भी न बनो तो) सहज (अकर्ता) स्वभाव रह जायेगा। *बोल नं. 611*

प्र०–६४७ कैसा निर्णय करने पर स्थिरता आये, टिके एवं बढ़े?

उ0– ''मैं स्थिर (तत्त्व) हूँ'—ऐसा निर्णय करने पर स्थिरता आती है, टिकती है, बढ़ती है, और सुख होता है। 'मैं अस्थिर हूँ' ऐसे भाव में सुख नहीं मिलता, दुःख होता है। *बोल नं. 612*

प्र०–६४८ ज्ञानियों की मरणकाल में परिणति कैसी होती है?

उ0– (ज्ञानियों के मरण काल में) अभिप्राय में परिणाम, गति आदि गौण हो जाती है। उनकी मरण के समय क्षेत्रांतर पर नहीं, लेकिन परिपूर्ण (स्व) पर दृष्टि रहती है। *बोल नं. 613*

प्र०–६४९ परिणामों की मर्यादा कितने कालकी समझें?

उ0– (वैसे तो) 'प्रतिसमय का परिणाम' उस काल में मात्र जाना हुआ ही प्रयोजनवान है–बस! इतनी ही मर्यादा है। *बोल नं. 614*

प्र०–६५० पू. गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि 'सद्गुरु कहें सहजका धंधा, वाद विवाद करे सो अंधा' उनका आशय इसमें क्या है?

उ0– वस्तुस्वरूप (अकर्ताभाव ही) तो सहज का धंधा है, वाद–विवाद (उसमें कर्तापने की विपरीत कल्पना) करे सो अंधा है। *बोल नं. 615*

प्र०–६५१ जब क्षणिक सत् को स्वतंत्र स्वीकारें? तभी त्रिकालीसत् स्वतंत्र स्वीकारा कहा जायेगा न?

**उ0–** **जो क्षणिक को** (स्वतंत्ररूप) **नहीं स्वीकारता, वह त्रिकालीसत् को** (स्वतंत्र) **कैसे स्वीकारेगा।** *बोल नं. 616*

प्र०–६५२ त्रिकाली की महत्तता को उदाहरण से समझाने की कृपा करें?

**उ0–** **एक ओर त्रिकाली का पलड़ा और दूसरी ओर क्षणिक का पलड़ा। जैसे एक ओर माल दूसरी ओर बारदान; महत्ता माल की है, बारदान की नहीं।** *बोल नं. 617*

प्र०–६५३ क्या गति बदलने पर आत्मा स्वक्षेत्र से च्युत होता है?

**उ0–** **गति** (बदलने में) **व्यवहार से क्षेत्रांतर होता है। निश्चय से अपना क्षेत्र** (स्वचतुष्टय) **कभी नहीं छूटता।** *बोल नं. 618*

प्र०–६५४ हमारा पर के साथ ज्ञेय ज्ञायक संबंध तो कहा है न?

**उ0–** **ज्ञान की पर्याय ज्ञेय के साथ** (व्यवहार से) **संबंध रखती है ज्ञायक का** (हमारा) **संबंध किसी के साथ नहीं।** *बोल नं. 619*

प्र०–६५५ इस काल में सत्समागम लाभकारी (तो) है न?

**उ0–** **निश्चयस्वरूप अपनी आत्मा का समागम करना वही सत् समागम है, और यही लाभकारी है। व्यवहार से देव–शास्त्र–गुरु तथा धर्मात्मा का संग सत्समागम** (भी व्यवहारसे कहा जाता) **है।** *बोल नं. 620*

प्र०–६५६ मुझे ध्यान तो करना चाहिए न?

**उ0–** **मैं ध्येय स्वरूप** (वस्तु) **हूँ। परिणाम मेरा ध्यान करता है।** *बोल नं. 621*

प्र०–६५७ आपके अनुसार हेय तत्त्व की क्या पहचान है?



**उ0–** **जिसमें थकावट आये, उसे हेय जानें। शुभाशुभ में थकावट आती है;** (अतः हेय है) **शुद्धभाव में थकावट नहीं आती।** (इसलिए तो कहते हैं सभी) **पर्याय को पर्याय के स्थान में रहने दो** (अपने में न खताओ) **।** *बोल नं. 622*

प्र०–६५८ परिणाम की पकड़ छोड़ने हेतु सरल उदाहरण से समझाने की कृपा करें!

**उ0–** **पोपट** (तोता) **भूँगली को पकड़ने पर औंधा हो जाता है, गिर जाने के भय से** (वह) **भूँगली को छोड़ता नहीं; यदि वह भूँगली को छोड़ दे, तो उड़ जाये; क्योंकि उड़ना तो उसका सहज स्वभाव है।** (परंतु) **वह अपनी स्वाभाविक शक्ति को भूला हुआ है। वैसे ही अज्ञानी अपनी** (स्वाभाविक) **शक्ति को भूलकर** (पर्याय का कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता की मान्यता से) **परिणाम को पकड़े हुए है।** *बोल नं. 623*

प्र०–६५९ मात्र विकल्प तोड़ कर अंतर्मुख होना है न?

**उ0–** **मैं तो सदा अंतर्मुख हूँ, मेरा विकल्प के साथ भी संबंध नहीं है** (तब तोड़ना क्या) **तो दूसरों की तो बात क्या?** (हमारा) **आत्मा ही निज वैभव है, सम्यग्दृष्टि की राग के प्रति पीठ है मुख नहीं।** *बोल नं. 624*

प्र०–६६० सम्यक्त्वसन्मुख जीव का जोर कहाँ आना चाहिए?

**उ0–** **मैं परिणाम से शून्य हूँ—ऐसा जोर आना चाहिए।**

*बोल नं. 625*

प्र०–६६१ द्रव्यलिंगी की मुख्य गौण में क्या भूल रहती है?

**उ0–** **द्रव्यलिंगी को मंद कषाय की मुख्यता है और** (त्रिकाली) **द्रव्य स्वभाव की गौणता है।** *बोल नं. 626*

प्र०–६६२ आपमें हमें निर्भयता, निश्चिंतता, शांतता दिखती इसका क्या कारण है?

उ0– मेरी भूमि वर्तमान में इतनी निष्कंप और नक्कर (ठोस) है कि जिससे मैं वर्तमान में ही निर्भय हूँ, निरावलम्बी हूँ, परिपूर्ण हूँ, निष्क्रिय हूँ, सुखरूप हूँ, कृतकृत्य हूँ, त्रिकाली एकरूप हूँ, अचल हूँ। *बोल नं. 627*

प्र०–६६३ आप पूज्य गुरुदेव श्री के सामने अपनी परिणति की बात क्यों नहीं रखते?

उ0– कोई (मुझे) जाने न जाने, इसमें आत्मा को कोई फायदा नहीं है। अनंत सिद्ध हो गये हैं, आजकल कोई उनके नाम तक भी नहीं जानता है। असंख्य सम्यग्दृष्टि (तिर्यंच) अभी ढाई द्वीप के बाहर मौजूद हैं, उन्हें कौन जानता है?

आप किसी के लिए बोझा न उठायें, मैं अपनी बात अपने मुँह से नहीं कह पाऊँगा, और कोई बात(बहाना) बना करके जाना, ऐसा मुझसे नहीं हो सकता। *बोल नं. 628*

प्र०–६६४ क्या निज आत्मा तीन लोक तीनों कालों से भी महान है?

उ0– एक पलड़े में आत्मा, और दूसरे पलड़े में तीन काल, तीन लोक फिर भी आत्मावाला पलड़ा (भार से) बैठ जाता है और दूसरा पलड़ा उलट (ऊँचा उठ) जाता है। *बोल नं. 629*

प्र०–६६५ गलत दिशा में लगी रुचि को सही दिशा में लगाने को हमें कितना बल चाहिए, उदाहरण से समझायें?

उ0– (जैसे) द्रव्यलिंगी मुनि ने वीर्य बहुत उल्टा लगाया है। वह जितनी जोर से उल्टा पड़ा है, उससे अधिक वीर्य सम्यक् होने में लगाना पड़ेगा, तभी सम्यक् होगा। *बोल नं. 630*



प्र०–६६६ पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन की विशेषता बताने की कृपा करें?

उ0– पूज्य गुरुदेवश्री के एक घण्टे के प्रवचन में पूरी की पूरी (मोक्षमार्ग की) बात आ जाती है। *बोल नं. 631*

प्र०–६६७ पूज्य बहिनश्री बहिन द्वारा होने वाली भक्ति देखकर आपको कैसा लगता है?

उ0– ऐसी भक्ति मेरे में नहीं, इस बात में तो मैं अपनी क्षति देखता हूँ। (अंगत) *बोल नं. 632*

प्र०–६६८ सम्यग्दर्शन के पूर्व आपकी कैसी दशा थी?

उ0– निर्विकल्पता के पूर्व विकल्प का इतना दुःख मालूम हुआ था—ऐसी दशा हुई थी कि ''या तो देह छूट जायेगी या विकल्प फट जायेगा।'' तीसरी बात होनेवाली नहीं थी। (अंगत) *बोल नं. 635*

प्र०–६६९ क्या स्वयंके आत्मा को भी देव-शास्त्र-गुरु की उपमा दी जा सकती है?

उ0– निश्चयग्रंथ आत्मा हैं, निश्चयगुरु आत्मा है और निश्चय देव भी (स्वयं का) आत्मा है, मूल बात इधर (अंदर) से है, बाद में बाहर के निमित्तों (देव-शास्त्र-गुरु) पर उपचार किया जाता है। *बोल नं. 636*

प्र०–६७० आपके पुरुषार्थ को देखकर यह लगता है कि आप अति शीघ्र ही सिद्धालय में जायेंगे?

उ0– मैं तो अभी ही सिद्ध हूँ। चौदहवां गुणस्थान होगा और बाद में सिद्धालय में जाना होगा, क्षेत्रांतर वगैरह होगा; लेकिन यह सब कार्य पर्याय में होगा। पर्याय का कार्य पर्याय में होता है, मेरे में नहीं मैं तो अभी भी सिद्धालय में बैठा हूँ। कभी कहीं आया भी नहीं, गया भी नहीं। *बोल नं. 637*

प्र०–६७१ पुरुषार्थ का क्या स्वरूप है ?

उ0– मैं वर्तमान में ही अनंत वीर्य (पुरुषार्थ) का पिण्ड हूँ। यही (अनुभव) पुरुषार्थ है। *बोल नं. 638*

प्रश्न–६७२ दृष्टि तो फेरना है न ?

उ0– 'मैं खुद ही दृष्टा हूँ'–इस भाव में दृष्टि नहीं फेरना है। 'वर्तमान में ही कृत्य कृत्य हूँ।' इसमें कुछ करना नहीं है। *बोल नं. 638*

प्र०–६७३ आपकी परिणति अंदर में अभेद रहती है, इसलिए आपको साधक कहुँ ?

उ0– पर्याय की अपेक्षा से मुझे साधक कहो, तो कहो वैसे मैं तो न साधक हूँ, न बाधक हूँ (मैं तो ज्ञायक हूँ)। *बोल नं. 639*

प्र०–६७४ क्या आपकी संसार यात्रा समाप्ति पर है ?

उ0– यह भव तो मुसाफरी (जैसा) है। अब तो (अगला भव) आखरी मुसाफरी (यात्रा) है। (अंगत) *बोल नं. 640*

प्र०–६७५ आपके मुँह से गुरुदेव की महिमा सुनना बहुत अच्छा लगता है ?

उ0– (पूज्य) गुरुदेवश्री के लिए मेरे हृदय में क्या है–सो चीर कर कैसे बतलाऊँ ?.....बस ! यह तो मेरा ज्ञान ही जानता है। (अंगत) *बोल नं. 641*

प्र०–६७६ (एक मुमुक्षु) : हमको पढ़ना नहीं है, मुनि होना है यह सुनकर आपने क्या कहा ?

उ0– हमको तो न पढ़ना है, न मुनि होना है। हमारे में कुछ होने का सवाल ही नहीं। मैं तो जो (अपरिणामी ज्ञाता) हूँ, सो हूँ। *बोल नं. 642*

प्र०–६७७ बतायें कि आप एकांत में ज्यादा क्यों रहते हैं ?

उ0– मुझे (पर संग में) इतनी थकान लगती है कि कितने ही दिनों का एकांत मिले फिर भी थकान न उतरे इतनी एकांत प्रियता है। (अंगत) *बोल नं. 643*

प्र०–६७८ (प्रस्ताव) आप हमारे साथ गुरुदेव के पास चलेंगे ?

उ0– आप जाईए। मैंने तो गुरुदेव को यहाँ बैठा लिया है। (अंगत) *बोल नं. 644*

प्र०–६७९ अभी आप कौन से शास्त्र का वांचन करते हैं ?

उ0– शास्त्र–वांचन की खास आदत नहीं रही, और मुझे क्षयोपशम भी बढ़ाना नहीं है। (अंगत) *बोल नं. 645*

प्र०–६८० आपको विश्व में सबसे सरल कार्य क्या लगता है ?

उत्तर :—जरा सा इधर (त्रिकाली) का ख्याल (अनुभव) आ गया, तो सुगम में सुगम यह कार्य लगता है। इसके आगे पानी पीने का कार्य भी कठिन लगता है। इसी (ध्रुव स्वसंवेदनरूप) कार्य में सब सुगमता और सरलता है, दूसरे में नहीं। *बोल नं. 646*

प्र०–६८१ धारणा में क्या ध्येय हो जिससे स्व में पसर सके ?

उ0– पहले धारणा में 'ऐसा हूँ' ऐसा आ जाता है अन्य (पदार्थ) की जैसी कल्पना होती है–वैसी यह भी कल्पना ही है। परंतु जो इसमें सुख का ध्येय हो, तो इस तरफ के विकल्प चलते–चलते इसमें प्रसर जाता है। *बोल नं. 647*

प्र०–६८२ अनुभव करने की आकुलता कैसे मिटे ?

उ0– अनुभव के लिए भी आकुल-व्याकुल क्यों ? अपने निष्क्रिय स्थान पर आते ही वह सहज ही हो जाता है। *बोल नं. 648*

प्र०–६८३ पर्याय के बिगड़ने का भय कैसे निकले ?

उ0– पर्याय को नहीं देखते रहने से बिगाड़ हो जायेगा–ऐसा भय (अज्ञानी को) रहता है। अरे! बिगाड़ हो तो हो–एक बार (ध्रुव में बैठकर) देखो तो सही कि, क्या बिगड़ता है, (कुछ) बिगड़ेगा तो सुधार लेंगे। *बोल नं. 649*

प्र०–६८४ ज्ञानियों को देखने सुनने से तो लाभ ही होता है न ?

उ0– ज्ञानी के मुख से सुनते ही रहना–ज्ञानी के मुख से कब कौन सी बात निकल जाये ? श्रीमद्जी कहते है कि ज्ञानी की चेष्टा आदि देखते रहना।

तो ऐसे व्यवहार कथनों को पकड़ने से उल्टा अभिप्राय बन जाता है। अरे! एक ज्ञानी तो क्या, अनंत ज्ञानियों की ओर और अनंत सिद्धों को देखते रहने से तो स्वयं का ही नाश (नुकशान) होता है। *बोल नं. 650*

प्र०–६८५ आत्मा की महिमा हेतु सरल उदाहरण देने की कृपा करें ?

उ0– चक्रवर्ती छह खण्ड को जीतते हैं परंतु यहाँ तो मैं ऐसी चीज हूँ कि तीनलोक से भी जीती न जाये ऐसी महान चीज हूँ फिर छह खण्ड का क्या हिसाब ? *बोल नं. 651*

प्र०–६८६ हमें गर्वित होने का भाव तो आता है क्या करें ?

उ0– खुद से गर्वित बनो। निर्विकल्प गर्व होना चाहिए। *बोल नं. 652*

प्र०–६८७ हमें कौन तत्त्व सब जगहों से हटाता है ?

उ0– ज्ञान (क्षयोपशम विशेष) हो या न हो परंतु जो (अतीन्द्रिय) सुख है वह जीव को सब जगह से हटा देता है। *बोल नं. 653*



प्र०–६८८ कई लोग विषयानुराग छोड़ देते है फिर भी आत्मा क्यों नहीं मिलती ?

उ0– जीव को विषय का राग छूट सकता है, मनन का राग नहीं छूट पाता; (असल में तो) मनन का भी राग छूट जाना चाहिए। *बोल नं. 654*

प्र०–६८९ 'ज्ञान के साथ यदि मान है' तो वह ज्ञान नहीं इसका आशय क्या ?

उ0– क्योंकि उघाड़ ज्ञान (मानादि) कषाय से साथ अभेद होता है। और अंतर्ज्ञान आत्मा के आनंद के साथ अभेद होता है। *बोल नं. 655*

प्र०–६९० जैसे पैसा बढ़ते बढ़ते अरबपति हो जाते हैं, वैसे क्षयोपशम बढ़ते बढ़ते पूर्णज्ञान हो जायेगा न ?

उ0– मिथ्यादृष्टि क्षयोपशम बढ़ते–बढ़ते केवलज्ञान हो जायेगा ऐसा मानता है। अरे.....रे वह तो निगोद की तरफ जा रहा है। *बोल नं. 656*

प्र०–६९१ अधिक विकल्प होने पर क्या करना ?

उ0– जिस जिस समय जैसे जैसा योग है, और जैसे जैसे विकल्प हों उनमें खींचतान और खड़खड़ाहट नहीं करना (यह स्वीकारो तब ही विकल्प बदलनेकी इच्छा समाप्त होगी।) जो हों सो हों (उसकी सत्ता मेरे से भिन्न है यह अनुभवो)। *बोल नं. 657*

प्र०–६९२ सारभूत संक्षिप्त सूत्र देने की कृपा करें ?

उ0– चैतन्यमूर्ति भावाकार (स्वयं को वर्तमान अवस्था माननेरूप) हो रही है इसके बदले (वर्तमान) भावों को चैतन्यमूर्ति–आकार (त्रिकाली रूप) बनाओ। *बोल नं. 658*

प्र०–६९३ (एक साधर्मीने पूछा) सोनगढ़ से जाते समय आपका हृदय दु:खी सा लगता है ?

उ0– (पू. निहलभाई बोले) **हम लोग** (यहाँ) **चतुर्थकाल में वर्त रहे है। 'पूज्य गुरुदेव तीर्थंकर हैं'।** (इतना सुन्दर योग होने पर भी) **मुझे सिद्धपुरी से जाना पड़ रहा है,** [सोनगढ़ से जाते वक्त आखिर में दु:ख व्यक्त करते हुए बोले।] *बोल नं. 659*

प्र०–६९४ आपको यहाँ वहाँ जाने में कैसा लगता है ?

उ0– (मुझे) **शरीर छुट्टा-छुट्टा** (भिन्न) **ही जनाता** (भासता) **है।** (फिर भी शरीर से लेकर) **यहाँ वहाँ जाना भार उठाने, बोझा उठाने जैसा लगता है।** (अब तो सादि अनंत काल तक अंदर में बैठे रहें, कही न जाना पड़े।) (अंगत) *बोल नं. 660*

प्र०–६९५ यदि ज्ञानी किसी से किसी काम को कहें और वह न कर सके तब ज्ञानी क्या करते हैं ?

उ0– **पुण्यवंत ज्ञानी का वीर्य प्रबल होता है वे किसी को कोई काम के लिए कहें फिर** (भी) **वह काम न हो तो वे** (उस) **काम के बिना ही चला लेते हैं, परंतु पुनः नहीं कहते हैं।** *बोल नं. 661*

प्र०–६९६ सगे संबंधी मोक्ष जाने में साधक है या बाधक ?

उ0– **जो जल्दी मोक्ष जाना चाहता है तो इस मार्ग में बहुत ही अटकाव बाधायें आतीं है कारण कि जिनके साथ संबंध है वे सब 'मत जाओ' 'मत जाओ' ऐसे रोकने आते हैं।** *बोल नं. 662*

प्र०–६९७ आप फोटोग्राफर की कौन बात सुनकर बोले, कि यह उदाहरण बहुत सटीक है ?

उ0– **स्टुडियोवाले ने फोटो खींचानेवाले से कहा कि आप सिर्फ**



**हँसता हुआ चेहरा रखो, बाकी सब मैं सम्हाल लूँगा। ऐसे ही यहाँ एक अपने द्रव्य को सम्हालो,** (अपने को ध्रुवरूप अनुभवो) **अन्य सब स्वयं ठीक हो जायेगा।** *बोल नं. 663*

प्र०–६९८ ज्ञान और पुरुषार्थ का कर्ता कौन एवं हम कैसे है ?

उ0– **ज्ञान का कार्य ज्ञानस्वभाव को करने दो, पुरुषार्थ का कार्य पुरुषार्थ स्वभाव को करने दो, यह तो पर्याय का स्वभाव होने से अपने आप होगा।**

**हम तो निष्क्रिय हैं। कर्त्ता कर्म क्रिया में आते ही नहीं। पर्याय में** (स्वयं से) **कर्ता कर्म क्रिया होती है।** *बोल नं. 664*

प्र०–६९९ आपने पहले कहा था ''परिणाम परिणम जाता है मैं ऐसा का ऐसा रह जाता हूँ'' उसे समझानेकी कृपा करें ?

उ0– **जैसे पर्वत के ऊपर रूई धुनने पर वो फट-फट उड़ जाती है, हाथ में नहीं आती। वैसे ही परिणाम के ताने वाने फट-फट छूट जाते हैं** (अपनी योग्यतानुसार बदलते रहते है) **परंतु मैं अपरिणामी तो ऐसा का ऐसा ही रहता हूँ।** *बोल नं. 665*

प्र०–७०० ज्ञानियों को अपने अचल स्वभाव एवं सुख के बारे में कितनी दृढ़ता होती है ?

उ0– **ज्ञानी कहते हैं कि नहीं फिरने** (पलटने) **वाला 'मैं' अनंत तीर्थंकर भी आयें तो भी** (मैं) **फिरता नहीं। मैं** (जो) **मानता हूँ वही सत्य है और जिसे अपना सुख प्रगट हुआ** (है) **उसे कोई कहे कि 'यह सुख नहीं है' तो वे कहते हैं कि अरे भाई! तुमसे कौन पूछता है** (सुख है या नहीं)**?** *बोल नं. 666*

प्र०–७०१ सुगुरु और कुगुरु को भी किसी अपेक्षा एक कोटी में भी रखा जा सकता है क्या ?

उ0– **'पर है' इस अपेक्षा कुगुरु सुगुरु दोनों समान हैं,** (फिर भी

अज्ञानी उनमें) भेद करता है। पर (परसमय) ही पर में (पर ज्ञेयों में) भेद करता है। ज्ञानी तो दोनों जैसे हैं उनका (वैसा) जाननहार रहता है। *बोल नं.667*

प्र०–७०२ यदि 'द्रव्य' स्वभाव से ही बहुत महान है तब फिर किस भूल से संकुचित हो रहा है?

उ0– अनंत सुख की अनंत पर्यायवाला द्रव्य, एक समय की पर्याय (उत्पाद-व्यय) में आकर (रुककर) संकुचित हो जाता है, जिससे अनंत दुःख है। आत्मा का स्वभाव तो प्रफुल्लित होना है, खिलने का है, केवलज्ञान (रूप परिणमित) होने का है। *बोल नं. 668*

प्र०–७०३ मुझे कुछ कमजोरी एवं मचक (अटकन) है यह कहने का अधिकार अज्ञानी को है क्या?

उ0– मचक (कमजोरी) भी तब ही कही जाती है कि विकल्प में दुःख ही दुःख लगे। जो अपनी तरफ आया नहीं तो मचक कहाँ भासी है? वह तो ज्ञानियों के कहने पर से कहता है, परंतु भाव में तो मचक भासी नहीं है। अटकन तो तब कही जाय कि अनअटकन स्वभाव (द्रव्य स्वभाव) की दृष्टि हुई हो तभी अटकन कहने का अधिकारी है। *बोल नं. 669*

प्र०–७०४ मेरे में (द्रव्य में) और परिणाम में (पर्याय में) कितना अंतर है?

उ0– मेरे में और परिणाम में (गहराई से देखा जाये तो) दिन रात का अंतर है। *बोल नं. 670*

प्र०–७०५ शास्त्रज्ञान और सहजज्ञान का स्वरूप समझाने की कृपा करें?

उ0– शास्त्रादिक का विकल्पात्मक ज्ञान है वह तो पर्याय के साथ अभेद है, और सहजज्ञान त्रिकाली के साथ अभेद है। *बोल नं. 671*



प्र०–७०६ आँख नाक कान आदि सर्व इन्द्रियाँ जवाब दे जायें तब हम क्या कर सकते हैं?

उ0– आँख फूट जाये, अंधा हो जाये तो देखने के उपयोग का लम्बाना मिटा। कान फूट जाय, जीभ कट जाय सर्व इन्द्रियों का नाश हो जाय तो क्या? वहाँ उपयोग लगाना मिट गया (इस अपेक्षा से) वह तो जितेन्द्रिय हो गया। *बोल नं. 672*

प्र०–७०७ ज्ञानी अज्ञानी दोनों शास्त्र स्वाध्याय में रुके परंतु दोनों के रुकने का अंतर उदाहरण से समझायें?

उ0– चलते चलते तो एक व्यक्ति तो ऐसे ही अटकता है और दूसरा व्यक्ति कांटा लगने से अटकता है, दोनों के अटकाव में बहुत फेर है। वैसे ही एक तो शास्त्र आदि से लाभ मानकर अटके और दूसरा क्षणिक मचक (कमजोरी) के कारण रुके(अटके)—इन दोनों में बड़ा अन्तर है। (प्रथम तो) शास्त्रादि से ज्ञान होता नहीं, ऐसी दृष्टि होते ही उस तरफ का झुकाव अटक जाता है। *बोल नं. 673*

प्र०–७०८ विकल्प के समय ज्ञानी स्वयं को अभिप्राय में कैसा मानते हैं?

उ0– सम्यग्दृष्टि को विकल्प होते हुए भी ऐसा लगता है कि 'मैं तो केवली जैसा हूँ' यानिकी लोकालोक का जाननहार हूँ, मानो स्वयं को पूर्णता हो गई ऐसा लगता है। *बोल नं. 674*

प्र०–७०९ आगम में पुण्य को कागवीटसम कहा फिर भी लोग उस आगम वाक्य का विरोध क्यों करते हैं?

उ0– राग को जहर कहने में आवे तो सुनकर वह चमकता नहीं क्योंकि उसे (ऐसा सुनने की) आदत हो गई है। परंतु पुण्य

को काकविष्ठा कहने में आये तो, नया शब्द होने से चमकता (भड़कता) है। *बोल नं. 675*

प्र०–७१० उदाहरण से समझायें कि प्रशस्त निमित्तों की मग्नता भी मिथ्यात्व है ?

उ0– (व्यसनी को) इच्छानुसार (व्यसन) मिल जाने का कारण पुण्य का उदय तो है परंतु उसमें (उसे भोगने के भाव में) वह पाप की पुष्टि करता है; वैसे ही गुरुदेव, शास्त्र (आदि) मिल जाना पुण्य का उदय तो है परंतु इनके प्रति मग्नता के भाव (लाभ मानने) में मिथ्यात्व के ही पाप की पुष्टि करता है। *बोल नं. 676*

प्र०–७११ परिणाम को गौण करने को क्यों कहा होगा ?

उ0– परिणाम, अपरिणामी से जुदा ही है, इसलिए गौण करने को कहा है। क्रिया परिणाम में होती है; मेरे में नहीं, इसलिए (तभी) दो भाव, दो तत्त्व जुदे जुदे ही सिद्ध होते हैं। *बोल नं. 677*

प्र०–७१२ निर्भार बनने हेतु कुछ छोटे छोटे सूत्र बताने की कृपा करें ?

उ0– (भावना करो कि अपने) स्थल पर जम जाऊँ, अधिक बल से जम जाने पर एक समय (ऐसा आता है कि उस) में एकत्व हो ही जाता है। (1)

कर्त्ता कर्म क्रिया मेरे में नहीं; वे तो परिणाम (में) हैं। (2) साक्षीभाव भी मैं नहीं, वो तो एक समय की ज्ञान की शुद्ध पर्याय है। (3)

''मैं तो निष्क्रिय त्रिकाली हूँ' अभिप्राय में (ऐसा) यथार्थ भान प्रगट करना चाहिए। (4)



मैं तो निष्क्रिय त्रिकाली हूँ—ऐसी यथार्थ दृष्टि हो गई तो परिणाम मात्र से उपेक्षा हो गई। (5)

मैं तो ऐसी ही भूमि हूँ, त्रिकाली धाम, अनंतगुणों का स्वरूप पिण्ड हूँ, परिपूर्ण तत्त्व हूँ–उसमें ही बैठ जाओ, (लोकालोक) सहज जनिज (जानने में आ) जायेगा। मुझे कुछ जानना नहीं। जानना, जानते रहना ऐसा भी नहीं। अभिप्राय में तो (मैं) पूर्ण हूँ–ऐसा (मैं) 'मुक्तस्वरूप' वर्तमान में ही हूँ। (6) *बोल नं. 678*

प्र०–७१३ क्या मैं इतना निष्क्रिय हूँ कि जानन क्रिया का भी कर्त्ता नहीं। तो शुद्धता कैसे होगी ?

उ0– सत् (ध्रुव) स्वभाव से ही निष्क्रिय है.....शुद्ध जीवास्तिकाय निष्क्रिय है। मैं (इतना) निष्क्रिय हूँ (कि) जानने की क्रिया का भी कर्त्ता नहीं हूँ।

परिणाम–क्रिया (पर्याय) दूसरा भाव (पर्याय रूप भाव) है; (उससे) अधिक भिन्नपने (रूप) द्रव्य पर (लक्ष्य) आया, तो पर्याय सहज (शुद्ध) होती रहती है। *बोल नं. 679*

प्र०–७१४ सम्यग्दर्शन होने के पूर्व बारम्बार किसका लक्ष्य होता है ?

उ0– जिस (ध्रुव) भाव पर जाना है उसको बारम्बार लक्ष्य में लेना क्योंकि यह (परम पारिणामिक ध्रुव भाव ही) साधन अपेक्षा से आखरी साधन है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने वाले को बारम्बार (इसी) द्रव्य स्वभाव का ही लक्ष्य आया करता है, दूसरे सब विकल्प छूट जाते हैं। *बोल नं. 680*

प्र०–७१५ निष्क्रिय शब्द की गहराई कहाँ तक है ?

उ0– (मैं) निष्क्रिय हूँ, शुद्ध हूँ (यदि) वह जानने की क्रिया (भी)

करे तो निष्क्रिय नहीं रहता। मैं तो निष्क्रिय ही हूँ, वर्तमान से ही कुछ करना नहीं है। अपना तो नित्य टिकने का स्वभाव है और वही मैं हूँ।

पूरा समुद्र, क्या एक तरंग में आ जाता है? मैं तो अपरिणामी हूँ, (बस अब) यहीं बैठ जाओ। *बोल नं. 681*

प्र०–७१६ ज्ञाता–द्रष्टा तो रहूँ?

उ0– नहीं! वो करना ही नहीं। परिणाम पर बैठे तो 'जानने का कर्त्ता हूँ' ऐसा दिखता है। लेकिन इस निष्क्रियवस्तु में तादात्म्यपना आया तो सहज ही परिणाम (तो) निर्मल होते हैं। 'दृष्टि में तो ''मैं'' यही (निष्क्रिय) हूँ' यही रहे।

*बोल नं. 682*

प्र०–७१७ पर्याय में उथल पुथल करने की वृत्ति कब तक रहती है?

उ0– जब (तक) 'निष्क्रिय चैतन्यमूर्ति' दृष्टि में नहीं, वहाँ (तक) उथल पुथल करने की दृष्टि (वृत्ति) रहा करती है, तब भी पर्याय तो पर्याय (धर्म) से ही होती है। (यदि) द्रव्य पर बैठो, तो सब (पर्यायों का परिणमन) सहज ही (निर्मल होता) है, दूसरा कुछ करना ही नहीं। *बोल नं. 683*

प्र०–७१८ चैतन्यनिधि मिलने की विधि क्या?

उ0– परिणाम का मुख एकबार तो बदल, स्व सन्मुख कर। जब दृष्टि पलट जायगी, तो (अतीन्द्रिय आनंदरूप) दौलत (ही दौलत) मौजूद है। *बोल नं. 684*

प्र०–७१९ प्रमाण ज्ञान का स्वरूप क्या?

उ0– त्रिकाली धाम में (नित्य व क्षणिक) दो सत् का अनुभव (ज्ञान) एक साथ होता है ''वो (सम्यक्) श्रुतज्ञान है'' यही प्रमाण



ज्ञान है। उस (प्रमाण स्वरूप) स्थान से बाहर निकलना कठिन लगता है। *बोल नं. 685*

प्र०–७२० पात्र जीव को परिणाम संबंधी कैसी दृष्टि अवश्य होना चाहिए?

उ0– जीव को क्रिया का शौक हो रहा है कि 'मैं कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ, जानने की क्रिया करता हूँ'। लेकिन एक समय के परिणाम से ''मैं अधिक (भिन्न) हूँ। ऐसी दृष्टि तो एक बार अवश्य होनी चाहिए? *बोल नं. 686*

प्र०–७२१ स्वयं के बारे में हमारा झूठा अभिप्राय क्या है?

उ0– प्रथम तो मेरे में कुछ होता है न! ऐसा अभिप्राय ही झूठा है। (क्यों कि मैं निष्क्रिय हूँ) *बोल नं. 687*

प्र०–७२२ पुरुषार्थ किसे कहते हैं?

उ0– अपनी चीज (सत्ता) का निर्णय हो जाना चाहिए–बस। जो पुरुषार्थ कहने में आता है, वह इसे–ही कहते हैं। *बोल न. 688*

प्र०–७२३ दुनियाँ का नियम क्या है और उससे क्या बोध पाठ लेना चाहिए?

उ0– जिस जिस वस्तु को जीव चाहता है वह वस्तु (उससे) दूर चली जाती है (जिसे) नहीं चाहता वह चीज मिल जाती है यह दुनियाँ का नियम है। इसी तरह (जो) 'परिणाम पर बैठकर' शुद्धता चाहता है शुद्धता उससे दूर रहती है और परिणाम मात्र का लक्ष्य छोड़कर 'अपरिणामी की दृष्टि' करता है, तो शुद्धपर्याय प्रगट होती है। *बोल नं. 689*

प्र०–७२४ निगोद से भय एवं सिद्धदशा की चाह करना क्या उचित है?

उ0– निगोद में अनंतकाल बीत चुका है फिर भी मेरे में कुछ

हानि हुई नहीं, और सिद्ध की अनंत पर्याय होने पर मेरे में कुछ वृद्धि होने वाली नहीं है, मैं तो ऐसा का ऐसा (एकरूप) ही हूँ। पर्याय में मोक्ष हो तो भी क्या? परिणाम में कुछ भी हो वह मेरे हाथ की बात नहीं। *बोल नं. 690*

प्र०–७२५ व्यवहार की खतौनी कैसी करें?

उ0– सब बातों में निश्चय निश्चय (उपादान) पकड़ लो फिर व्यवहार (निमित्त) की खतौनी करो? *बोल नं. 691*

प्र०–७२६ स्वसन्मुख हो यह कहने में ज्ञानियों का क्या अभिप्राय है?

उ0– 'अपने द्रव्य के सन्मुख हो' इसमें भी ऐसा लगता है कि ''मैं'' द्रव्य के सन्मुख होऊं' परंतु ऐसा नहीं है, ''द्रव्य के अस्तित्व में अहंपना आना'' यही द्रव्य की सन्मुखता है। *बोल नं. 692*

प्र०–७२७ उदाहरण से समझायें कि स्वभाव की बात सुन कर कोई जीव कैसे जागृत हो जाता है?

उ0– भेड़ों के समूह में सिंह का बच्चा आ गया था लेकिन सिंह की एक आवाज सुनते ही अहो! मैं तो इसकी जाति का सिंह हूँ। (–ऐसी पहचान हो जाती है)–इसीप्रकार यह (जीव) स्वभाव की बात सुनते ही–किसी लायक जीव को ऐसी दृष्टि हो जाती है कि मैं तो ऐसा ही हूँ। *बोल नं. 693*

प्र०–७२८ जब निमित्त मिलें तो ही प्रयास हो सकता है न? एवं प्रयास कब तक जारी रखना चाहिए?

उ0– तुम्हारी योग्यता होगी तो निमित्त मिल जायेगा। जब तक अंतर में डुबकी न लगे तब तक प्रयास जारी रखना चाहिए। *बोल नं. 694*

प्र०–७२९ अनुकूलता के प्रति दृष्टि रखने का फल क्या आता है?

उ0– अनुकूलता (की ओर) देखते रहने से जीव अपने को चक्कर



में डालता है, परंतु उसे ख्याल नहीं है कि मैं खुद अनुकूलता की चाह में फँस रहा हूँ? *बोल नं. 695*

प्र०–७३० दृष्टि अंतर में ढलने पर अन्य गुणों से क्या कहती है?

उ0– दृष्टि यहाँ (अंतर में) ढली तो (पूर्णता दिखने पर) दूसरे गुणों को कहती है कि! तुमको यहाँ ढलना हो तो ढलो। *बोल नं. 696*

प्र०–७३१ अनुभव का प्रयास तो करते परंतु कभी कभी रुकावट (अवरोध) आ जाती है तब क्या करें?

उ0– प्रयास में आगे बढ़ते जाना यही मुख्य बात है। (संभव है) प्रयास में रुकावट आती है तो फिर समझ (से काम) लेता है ऐसे ऐसे प्रयास से आगे बढ़ता है, और समझसे रुकावट दूर करता जाता है। (यदि कोई पूँछे कि) इस प्रकार समझ लेने से क्या? (परंतु वस्तु स्थिति ऐसी है कि) प्रयास में आगे बढ़ने के लिए (यथार्थ) समझ की जरूरत है। *बोल नं. 697*

प्र०–७३२ पर्याय व्यय होती हुई क्या बताती है एवं कहाँ जाती?

उ0– पर्याय ध्रुव स्थान को बताती (प्रसिद्ध करती) हुई व्यय को प्राप्त होती है। व्यय होना तो उसका धर्म है परंतु ध्रुव धाम को बताती हुई व्यय होती है। (कहती देखो में कहाँ जा रही हूँ।) *बोल नं. 698*

प्र०–७३३ तिर्यंचों को तत्त्वों का विशेष ज्ञान तो नहीं परंतु किस भावभासन से अनुभव करते हैं?

उ0– तिर्यंच को तो (मैं) ज्ञायक हूँ, आदि किसी प्रकार का (विकल्पात्मक) भान नहीं परंतु अपनी तरफ झुके हुए परिणाम में ऐसा भाव-भासन हो गया है कि यही (स्वभाव) ठीक है अन्य कुछ ठीक नहीं। *बोल नं. 699*

प्र०–७३४ श्रोता : आपसे प्रश्न पूँछना है ?

उ0– (बीच में रोकते हुए) **दूसरों से क्या प्रश्न पूछना है। अब तो पूँछने पूँछने को तिजोरी में रख दो, खुद से पूँछो।** *बोल नं. 700*

प्र०–७३५ क्या पापी से पापी भी सुधर सकता है ?

उ0– **सभी जीव अब तक पाप ही पाप करते आये हैं फिर भी वो सच्ची दृष्टि कर सकते हैं और यही कार्य सुगम से सुगम है।** *बोल नं. 701*

प्र०–७३६ किसे किस रस वाले जीवों के प्रति बहुमान होता है ?

उ0– **नौ प्रकार के रसों का सहज स्वभाव है कि जिस तरफ का** (स्वयंको) **रस होता है उसी प्रकार के जीवों के प्रति कृत-कारित-अनुमोदना, बहुमानादि होता है। उसी प्रकार यहाँ** (आत्म के प्रति) **भी** (बहुमानादि भाव) **निर्विकल्प अंश** (शुद्ध परिणति) **में सहजरूप से होता है, उसमें जोर नहीं करना पड़ता।** *बोल नं. 702*

प्र०–७३७ (पर्याय में) शुभाशुभ परिणाम की धारा चला करती है तो क्या करे ?

उ0– **अरे भाई! वह चलती है, तो तुम्हारा क्या बिगड़ता है? उसका तुम्हारे में अभाव है,** (उनसे) **तुम्हारा कुछ बिगड़ता ही नहीं।** (यहाँ अपारिणामीको छोड़कर) **वहाँ क्यों देखते हो?** *बोल नं. 703*

प्र०–७३८ क्या परिणाम का कर्त्ता त्रिकाली द्रव्य नहीं ?

उ0– **परिणाम को स्वयं** (त्रिकाली द्रव्य) **नहीं कर सकता फिर भी वे स्वतः परिणमते ही रहते हैं परिणमे बिना रहते ही नहीं। क्योंकि उत्पाद व्यय होना उनका स्वभाव है।** *बोल नं. 704*



प्र०–७३९ अनंतवीर्य होने पर भी केवली भगवान योगरूप दोष को क्यों नहीं टालते ?

उ0– **केवलियों को** (तेरहवें गुणस्थान में) **थोड़ा योग के कंपन का दोष है वे अनंत वीर्य के धनी होने पर भी उसे टाल नहीं सकते। उनके स्वकाल में वह** (दोष) **स्वतः नाश हो जाते हैं।** (देखो वह पर्यायके प्रति इतने अकर्ता और साक्षी रहते हैं)। *बोल नं. 704*

प्र०–७४० किसी भी प्रकार के परिणाम को त्याग के पूर्व उन्हें कैसा जानना अनिवार्य है ?

उ0– **जिस चीज को छोड़नी है उसे पहले से ही हेयरुप जानी है तो फिर वह छूट जाय तो भी क्या ?**

**उसे करने के लिए खड़बड़ाहट और आकुलता करना, वह भले ही शुभ क्रिया है तो भी** (वैसे) **वह** (शुभ क्रिया परमार्थ से तो) **पाप ही है। वैसे तो उत्कृष्ट शुभ क्रिया तो आकुलता मंद होने पर ही होती है।** (फिर भी ज्ञानी मंद आकुलता को भी हेय जानते हैं)(परमात्मप्रकाश ७७ में से) *बोल नं. 705*

प्र०–७४० सुख कहाँ है ?

उ0– **सुख तो अपन जहाँ बैठे है वहीं है; उसके लिए भी आकुलता करना पाप ही है। सुख तो स्वयं जहाँ बैठा है वहीं है।** *बोल नं. 705*

**समाप्त**

# ''निहाल''

सोनगढ़ में आ सोगानी हो गये 'निहाल'
सोनगढ़ को सोगानीजी मिल गये 'निहाल'

'कहान गुरु' ने किया था सोनगढ 'निहाल'
कहान गुरु ने सोगानी को बताया तत्त्व 'निहाल'

सोनगढ को पा हम सब हो गये 'निहाल'
'द्रव्य-दृष्टि' हम को दे गये....'निहाल'

द्रव्य द्रष्टि पाकर हम भी अनुभवें 'निहाल'
प्रश्नोत्तरी 'द्रष्टि' को करेगी 'निहाल'

'निहाल' निज सत्ता निहारो बनोगे 'निहाल'
'कहान गुरु थे महान' उनकी वाणी थी 'निहाल'

द्रव्य को जाना 'निहाल' खुद को अनुभवा 'निहाल'
द्रव्य बताया 'निहाल' हम अनुभवें 'निहाल'

द्रव्य जब जानो 'निहाल' होगी परिणति 'निहाल'
अनादि की पामरता फिर भी वस्तु है 'निहाल'

स्वभाव से तो सारा जगत लगे हमें 'निहाल'
सोनगढ़ को पा 'सोगानी जी' हो गये 'निहाल'

द्रव्य भी 'निहाल' सब के गुण है 'निहाल'
निर्णय हुआ तो परिणति भी हो गई 'निहाल'

जिसे लगे 'खुद' निहाल, सारा जग लगे 'निहाल'
कहीं नहीं बेहाल गुरुने कर दिया 'निहाल'

द्रष्टिप्रकाश बताती तेरा द्रव्य है 'निहाल'
हमारे देव है निहाल हमारे गुरु है 'निहाल'

शास्त्र भी कहते स्वयं को अनुभवो 'निहाल'
दारिद्रिता मिटादी गुरुने कर दिया 'निहाल'

कण कण है निहाल जहाँ पर रहते थे 'निहाल'
धन्य है वे जीव जिनको मिले थे 'निहाल'

मिले थे 'निहाल' मन में बस गये 'निहाल'
धन्य हुआ वो कुल जहाँ जन्मे थे 'निहाल'

हमें न मिले निहाल किन्तु मिला ग्रंथ 'निहाल'
गुरु कहान थे 'निहाल' उन्हें शिष्य मिले 'निहाल'

ज्ञान से राग भिन्नता की कथनी थी विशाल,
बात यह सुनी सोगनी जी हो गये 'निहाल'

नाम था 'निहाल' फिर भी काम किया विशाल,
हम सब है 'निहाल' अनुभव वर्तता 'निहाल'

मुक्ति वधु वरेगी हमें वो हो जायेगी 'निहाल'
गुरु ने बताया तत्त्व विशाल हम समझे ये कमाल
सोनगढ़ में आ सोगानी हो गये 'निहाल'

ता. 17-10-13

रमेशकुमार जैन 'मंगल'
कहान क्लोथ स्टोर,
जूना पालिताना रोड
सोनगढ़ (पिन : 364250)
जिला : भावनगर
फोन : 02846-244035